तन्त्रागम सार सर्वस्व



राष्ट्रियपण्डित श्रीव्रजवल्लभद्विवेदी

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला– ४३

तन्त्रागम सार सर्वस्व

तन्त्रागम शास्त्र एवं भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ
प्रो. नवजीवन रस्तोगी जी को
सप्रेम
व्रजवल्लभ द्विवेदी
[illegible]

लेखक
राष्ट्रियपण्डित श्रीव्रजवल्लभद्विवेदी
निदेशक, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

प्रकाशक
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथम संस्करण २००५

मूल्य : रु. २००.०० (सजिल्द), रु. १५०.०० (अजिल्द)

अक्षर संयोजन
सार पब्लिकेशन
ई० फेज.२, प्रेमचन्द नगर कालोनी,
पाण्डेयपुर, वाराणसी - २२१ ००२

मुद्रक
मित्तल ऑफसेट्स
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series— 43

TANTRĀGAMA SĀRA SARVASVA

by

Rashtriya Pt. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANA
D. 35/77, Jangamawadimath
Varaṇasi - 221 001

First Published 2005

ISBN 81-86768-74-2 (Hb)
ISBN 81-86768-75-0 (Pb)

Price : Rs. 200.00 (Hb), Rs. 150.00 (Pb)

Laser Typeset at :
Sar Publication
E-8, Phase-2, Premachand Nagar Colony
Pandeypur, Varanasi - 221 002

Printed at :
Mittal Offset
Sundarpur, Varanasi

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक
श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर
श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का



शुभाशीर्वचन

हमारी संस्था शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से सन् २००० और २००१ में "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" शीर्षक बृहद् ग्रन्थ का दो भागों में प्रकाशन हुआ था। इसमें तन्त्रागमशास्त्र की वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त शाखाओं का ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया था। इस अनुशीलन को प्रस्तुत करने वाले हैं इस प्रतिष्ठान के निदेशक तन्त्रागमशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् राष्ट्रियपंडित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी। लगभग १ हजार पृष्ठों, दो खण्डों और आठ अधिकारों में विभक्त इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय हम अपने शुभाशीर्वचनों में दे चुके हैं। तन्त्रागमशास्त्र के विभिन्न विषयों पर यहाँ विभिन्न आगमों में स्वीकृत उनके स्वरूप पर विशद प्रकाश डाला गया था। सामूहिक रूप से इन सभी विषयों पर विचार की अपेक्षा थी कि इनमें परस्पर कितनी समानता अथवा असमानता है। इस कार्य को विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत "तन्त्रागम सार सर्वस्व" शीर्षक के इस छोटे से ग्रन्थ में तुलनात्मक पद्धति से पूरा किया है।

यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में दीक्षा-अभिषेक और मन्त्र-मातृकाओं के स्वरूप पर, द्वितीय अध्याय में परमतत्त्व, जीव और जगत् के स्वरूप पर तथा तृतीय अध्याय में बन्ध और मोक्ष के स्वरूप पर सामूहिक रूप से प्रकाश डाला गया है कि इनमें परस्पर कितना साम्य-वैषम्य है। दीक्षा को ही हम लें, दीक्षा की परिभाषा,

दीक्षा का अधिकारी, उसके भेद जैसे विषयों को प्रस्तुत करते समय यहाँ यह भी बताया गया है कि बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा का स्थान अभिषेक को दिया गया है। अन्य आगमों में भी दीक्षा देने का अधिकारी ज्ञानवान् अभिषिक्त आचार्य को ही माना गया है। उक्त विषयों से संबद्ध गुरु-शिष्य, सृष्टि-संहार जैसे विषयों पर भी उस-उस प्रकरण में प्रकाश डाला गया है।

आज भारतीय संस्कृति पर चतुर्दिक् अनर्गल प्रहार हो रहे हैं, विकृत रूप में उसको प्रस्तुत किया जा रहा है। उसके विरोध में, उसको नष्ट कर देने से उद्देश्य से अन्तरराष्ट्रिय स्तर पर मिथ्या प्रचार किया जा रहा है और उसका परिणाम यह है कि आज अपने देश में भी उसके प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता जा रहा है, उसके प्रति हेय दृष्टि पनप रही है। निरन्तरता के साथ परिवर्तनशीलता को स्वीकृति भारत में "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्" महाकवि कालिदास की इस उक्ति के रूप में बहुत पहले मिल चुकी थीं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" यह वैदिक घोष भारतीय संस्कृति का मूल आधार रहा है। सारे विश्व के भले विचारों को निगल जाने के लिए उद्यत अपसंस्कृतियों से विश्व-मानवता की रक्षा के लिए भारतीय संस्कृति का महनीय अवदान होगा। इस विषय को विद्वान् लेखक ने अपने "एक विश्व : एक संस्कृति" शीर्षक ग्रन्थ में विशद रूप से प्रस्तुत किया है।

निगम (वैदिक श्रुति) और आगम (तान्त्रिक श्रुति) शास्त्रों में से निगम वाङ्मय पर जितना काम हुआ है, आगमों के ऊपर उतना कार्य नहीं हुआ। इसीलिए हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान ने तन्त्रागमशास्त्र को अपने अनुशीलन का प्रमुख क्षेत्र बनाया है। वह इसलिए कि इस शास्त्र ने भारतीय संस्कृति के ऊपर किये गये आक्षेपों का एक हजार वर्ष पहले ही समाधान प्रस्तुत कर दिया था। कश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन और वीरशैव धर्म-दर्शन के ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति को विशेष रूप में देखा जा सकता है। आज भी भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठता के उत्तुंग शिखर पर पहुँचाने के लिए तन्त्रागम वाङ्मय के विकास एवं प्रचार-प्रसार की नितान्त आवश्यकता है। इसी विचार से प्रेरित होकर हमारे जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान ने १० वर्ष की स्वल्प अवधि में ही हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और तेलुगु अनुवादों के साथ लगभग ४० महनीय आगम-ग्रन्थों को प्रकाशित करा दिया है। इन सभी ग्रन्थों में विद्या और वित्त की अपेक्षा चरित्र पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है, जो मध्यकालीन सन्तों की विशेषता रही है।

तन्त्रागमशास्त्र की एक विशेषता पर हम विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थों और त्रिपुरा विद्या के आगमों में तीन संख्या के तत्त्वों की, कौल तन्त्रों से प्रभावित आगमों में चार संख्या के और क्रमदर्शन से प्रभावित शास्त्रों से पाँच संख्या के तत्त्वों की विशेष रूप से व्याख्या प्रस्तुत की गई है। लकुलीश पाशुपत

मत में भी पाँच संख्या वाले तत्त्वों को मान्यता दी गई है। वीरशैव धर्म-दर्शन के ग्रन्थों में इनकी संख्या छः हो गई है। एक ही स्थल तत्त्व षड्विध लिंग और षड्विध अंग के रूप में परिणत हो जाता है और वह षड्विध शक्ति और षड्विध भक्ति की सहायता से पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका सुन्दर, सुस्पष्ट, बोधगम्य विश्लेषण इसी प्रतिष्ठान से अभी हाल में प्रकाशित **पंचवर्णमहासूत्रभाष्य** नामक ग्रन्थ में किया गया है। षड्विध शक्ति और षड्विध भक्ति के अतिरिक्त षडक्षर मन्त्र, षड्विध कला, षट्चक्र, षडध्व आदि के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए यहाँ बहुत ही संक्षेप में लिंगांग-सामरस्य की पद्धति को सृष्टि और संहार न्याय से प्रस्तुत किया गया है। दर्शन जैसे गंभीर विषय को भी सरलता से प्रस्तुत करना आगम-तन्त्रशास्त्र की विशेषता है। इसी पद्धति का यहाँ सहारा लिया गया है।

विद्वान् पाठकों को सूचित किया जाता है कि वे आजकल की सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के लिए और मानव जाति की आध्यात्मिक समुन्नति के लिए भी इस प्रतिष्ठान से प्रकाशित हो रहे ग्रन्थों का अवलोकन अवश्य करेंगे।

लिंगैक्य-संपन्न जीवन्मुक्त योगी के पिण्ड (स्थूल देह) के साथ ३६ तत्त्वों और ३८ कलाओं के संयोजन के साथ षडध्व-न्यास की प्रक्रिया को, दीक्षा के स्वरूप का विवेचन करने के साथ, स्पष्ट करते हुए आचार्य नन्दिकेश्वर शिवाचार्य ने अपने महनीय ग्रन्थ **लिंगधारणचन्द्रिका** के उत्तर भाग के अन्त में स्पष्ट किया है। इस प्रसंग में उसका भी अवलोकन किया जा सकता है।

अन्त में हम प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक और संशोधक तन्त्रागमशास्त्र के महान् मनीषी श्री द्विवेदी जी के पूर्णायुष्य और आरोग्य की कामना करते हुए श्रीजगद्गुरु विश्वाराध्य, काशी विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा से प्रार्थना करते हैं कि इसी तरह आपके द्वारा साहित्य की सेवा होती रहे। इस अवसर पर प्रस्तुत मुद्रण, प्रकाशन आदि कार्यों में निष्ठा से काम करने वाले सभी को हम शुभाशीर्वाद प्रदान करते हैं। डॉ० जी० सी० केण्डदमठ, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी और आकार क्रियेशन एवं सार संस्थान, प्रेमचन्द-नगर के व्यवस्थापक डॉ० तरुणकुमार द्विवेदी ने इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की जिम्मेदारी निभाई है। आकार क्रियेशन में कार्यरत श्री अखिलेश मिश्र ने आकर्षक एवं परिशुद्ध अक्षर-संयोजन किया है। हम इन सभी के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

महाशिवरात्रि, संवत् २०६१ वि. **इत्याशिषः**

प्रस्तावना

हमारा "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" शीर्षक बृहद् ग्रन्थ दो भागों में सन् २००० और २००१ में प्रकाशित हुआ था। उसके परिशिष्ट के रूप में हम अब इस लघु-ग्रन्थ को "तन्त्रागम सार सर्वस्व" के नाम से प्रकाशित करा रहे हैं। इसमें तन्त्रागमशास्त्र के दीक्षा-अभिषेक, मन्त्र-मातृका जैसे कुछ प्रमुख विषयों की संक्षेप में तुलनात्मक समीक्षा की गई है। विस्तार से इन विषयों की जानकारी चाहने वालों को विशिष्ट विषयानुक्रमणियों से सहायता लेनी चाहिए।

इस अनुशीलन से हमें पता चलता है कि विविध विषयों में इनमें पर्याप्त समानता है। हमने यह भी देखा है कि इन पर दीक्षा और पुरश्चरण जैसे प्रसंगों में वैदिक वह्निसमाराधन का भी पर्याप्त प्रभाव है। यज्ञीय भस्म से तिलक करने को भी यहाँ मान्यता दी गई है। इस प्रसंग में बताया गया है कि यज्ञीय भस्म से अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार तिलक करना चाहिए अथवा भ्रू (भौंह) के मध्य में बिन्दु के रूप में भी उसे लगाया जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने आगम पद की बहुत लुभावनी व्याख्या की है कि यह शब्द उस व्यक्ति के लिए उसी शास्त्र का वाचक माना जायगा, जिस पर उसका विश्वास जमा हुआ है। वराहमिहिर ने भी कहा है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, वह उपासना उसे तदुक्त पद्धति से ही करनी चाहिए। भारतीय मान्यता है कि सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि-अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इन शास्त्रों को प्राप्त किया था। आगम शब्द की इस परिभाषा के अनुसार हम दुनिया के सभी धर्म-ग्रन्थों को इस नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण को मान्यता देते हुए भारतीय स्मार्त धर्म ने पंचायतन अथवा षडायतन पूजा को स्वीकार किया है। यहाँ उपासक की अपनी उपास्य देवता को प्रधानता दी गई है और अन्य देवताओं की आराधना उन-उन शास्त्रों में वर्णित पद्धति से करने का विधान है। इस दृष्टिकोण को आज भी हम स्वीकार कर सकते हैं और इसमें आज की दुनिया में प्रचलित सभी धर्मों की, उनके उपास्य देवताओं की उनकी अपनी-अपनी पद्धति से आराधना करने का विधान विकसित कर सकते हैं।

सिन्धु-सभ्यता को आजकल आर्य-अनार्य के झगड़े में डाल दिया गया है। यह उचित नहीं है। उत्खनन में उपलब्ध शिवलिंग, वृषभ, योगी आदि के चिह्नों का वैदिक वाङ्मय में वर्णन न मिलने के कारण वैदिक सभ्यता से भिन्न कोई सभ्यता भारत में विद्यमान थी, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है, किन्तु हम देखते हैं कि वैदिक वाङ्मय में भी हमें हिंसाप्रधान यज्ञों के साथ ही सौत्रामणी याग में सुरापान का विधान भी मिलता है। ऋग्वेद (७. २१.५; १०. ९९.३) में शिश्नदेवों का उल्लेख है। डॉ०

शान्तिभिक्षु शास्त्री ने "न काञ्चन" (२. १३.३) इस छान्दोग्य श्रुति को उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहाँ 'कामयमानाम्' यह विशेषण जोड़ते हैं। शास्त्री जी ने बोधिचर्यावतारभूमिका (पृ. १४-२६) में बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास पर भी विचार किया है। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने भी पुरातत्त्व निबन्धावली (पृ. १०९-१३०) में नीलपट दर्शन की चर्चा की है।

प्राय: सभी ऐतिहासिकों का मानना है कि प्रागैतिहासिक युग के भग्नावशेषों से यह बात सिद्ध होती है कि शैव धर्म और शैवी योग-साधना का प्रचार सिन्धु-सभ्यता में पर्याप्त मात्रा में हुआ था। यहाँ के प्राचीन निवासी शिव की, मातृदेवी की, शिवलिंग की, योनिमूर्ति की पूजा किया करते थे और योग-साधना का अभ्यास भी करते थे। शैव धर्म की अन्य शाखाओं की अपेक्षा आज भी वीरशैव धर्म की उससे बहुत कुछ निकटता बनी हुई है। वीरशैव धर्म के अनुयायी आज भी उसी तरह से इष्टलिंग का धारण और अर्चन करते हैं। दाहसंस्कार के स्थान पर इनमें भू-निक्षेप का विधान है। लिंगायत शब्द के माध्यम से यह वीरशैव धर्म सिन्धु-सभ्यता से जुड़ा हुआ है।

कौल संप्रदाय में रहस्यवाद के प्रवेश के विषय में भी विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वलिंगी मुद्राएँ मिलती हैं। "एनल्स आफ भाण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना" (भा. ३९. अं. ३-४, पृ. २८९-३६४, सन् १९५८) में इनका सचित्र विवरण प्रकाशित है। नेत्रतन्त्र (१३, १०-११) में दिग्वस्त्र, ऊर्ध्वलिंगी विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। कौल संप्रदाय में कायपूजा का सिद्धान्त लकुलीश संप्रदाय से प्राप्त हुआ है। हमारी समझ में वज्रयान और कौल तन्त्रों के मूल की खोज में हमें सिन्धु-सभ्यता, वैदिक वानप्रस्थ आश्रम, लकुलीश पाशुपत मत तथा कापालिक साधना के साथ बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा की तत्कालीन परिस्थितियों तक पहुँचना होगा। इस स्थिति में आर्य-अनार्य की कल्पना का पूरा महल वन्ध्यासुत, खपुष्प, मृगतृष्णा और शशशृंग के समान खड़ा किया गया है, इस पर सुधीजनों को गंभीरता से विचार करना चाहिए।

कालिदास ने कहा है कि पुराना सब कुछ अच्छा है और नया सब कुछ बुरा, ये दोनों ही दृष्टियाँ सही नहीं हैं, समझदार व्यक्ति को परीक्षा के उपरान्त ही किसी बात को स्वीकार करना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि विभिन्न आगमों ने नाना प्रकार के मतों की स्थापना अवश्य की है, किन्तु जैसे गंगा का सारा जल जाकर समुद्र में मिल जाता है, उसी तरह ये सब मत भी सभी को एक ही भगवान् के पास पहुँचाने के साधन हैं। पुष्पदन्त का कहना है कि नाना मार्गों पर चलने वाले सभी साधक अन्तत: एक ही भगवान् की शरण में पहुँचते हैं। श्रीमद्भागवत (११.१२.१५) का यह वचन विशेष रूप से अवधेय है कि युक्तियुक्त वचन का सदा आदर होना चाहिए।

जैन दर्शन में सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दृष्टि और सम्यग् आचरण को संमिलित मान्यता दी गई है। नैषधकार महाकवि श्रीहर्ष ने अध्ययन, बोध और आचरण से संपन्न व्यक्ति को ही प्रचार का अधिकार दिया है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में यही बात तो उपनिषदों में भी कही गई है। वहाँ गुरु शिष्य को उपदेश देता है कि तुम हमारी अच्छी बातों का अनुसरण करो, बुरी बातों का नहीं।

तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव **धर्म** शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सुख का असाधारण कारण धर्म है, ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है। मीमांसक विधिवाक्य को धर्म मानते हैं। .... अन्य आचार्यों के मत से धर्म पुरुष का ऐसा गुण है, जिससे कर्ता को प्रीति, कल्याण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। .... अन्य आचार्य अहिंसा को ही धर्म मानते हैं। बौद्धों के मत में चैत्यवन्दन आदि को भी धर्म माना गया है। कुछ आचार्य परोपकार को धर्म मानते हैं (श्लो. १९)। इस तरह से छः पक्षों को प्रस्तुत कर कुमारदेव इनमें से अन्तिम तीन मतों को अस्वीकार करते हैं और उसका कारण भी बताते हैं। यहाँ हमें विचार करना है कि अहिंसा आदि को योगसूत्रकार पतंजलि (२. ३१) ने सार्वभौम महाव्रत बताया है। जैन और बौद्ध मत में चैत्यवन्दन से भी धर्म को मान्यता मिली है। परोपकार के विषय में तो वह श्लोक प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि अठारह पुराणों में व्यास ने दो बातों पर जोर दिया है कि परोपकार से पुण्य और दूसरों को पीडा पहुँचाने से पाप होता है। एक दूसरा वचन भी प्रसिद्ध है कि मैं पूरी पृथ्वी का राज्य, स्वर्ग या मोक्ष भी नहीं चाहता, मैं तो दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करना चाहता हूँ। ऐसे वाक्यों के रहते भला हम परोपकार को धर्म की परिधि से अलग कैसे कर सकते हैं? स्पष्ट है कि हमें धर्म की मनुस्मृति में बताई गई नैतिकता से ओतप्रोत व्याख्या स्वीकार करनी चाहिए और धार्मिक कर्मकाण्ड को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखना होगा।

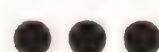
प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गई। गृहस्थ ऋषि का स्थान स्थविर, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु बाद में इनके इर्दगिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाएँ इकट्ठी होने लगीं। औपनिषद रहस्य एक अलौकिक तत्त्व था और तान्त्रिक योगियों ने सत्तर्क और स्वात्मप्रत्यभिज्ञा के सहारे स्वात्मस्वरूप को जीवन्मुक्त स्थिति में प्रतिष्ठित कर दिया।

अपनी विश्वात्मकता का अनुसन्धान करते रहने से ऐसे जीवन्मुक्त प्रमाता को अपने ऐश्वर्य की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती रहती है। इस जीवन्मुक्त स्थिति में जनन-मरण की परम्परा से अनुस्यूत मानव में भी सभी अवस्थाओं में एकरस स्वात्मानन्द की अनुभूति होती रहे, यह स्वाभाविक है। इस दशा में साधक के हृदय में

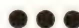
स्वात्मस्फुरत्ता, सर्वत्र समभाव, समतादृष्टि का प्रस्फुरण हो उठता है। प्राचीन काल का गृहस्थ ऋषि इसी जीवन्मुक्त स्थिति में सदा रहते हुए जगत् के कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था।

संस्कृति के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अब भी अपने प्रयत्न से इस स्थिति तक पहुँच सकता है। "एक विश्व : एक संस्कृति" (पृ. १-७) में हमने संस्कृति और सभ्यता को परिभाषित करते हुए बताया है कि मानव की सृष्टि के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का भी विकास होने लगता है। किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि अर्थ से सभ्यता का और धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। संस्कृति नदी के जल के समान सतत गतिशील रहती है। निरन्तरता और गतिशीलता इसके स्वाभाविक गुण हैं। सभी देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में इनको देखा जा सकता है। हम इसमें इतना जोड़ सकते हैं कि सभ्यता के लिए नैतिकता और संस्कृति के लिए आध्यात्मिकता आवश्यक तत्त्व हैं। तभी इनमें निखार आ सकता है, स्थिरता आ सकती है, इनको सर्वग्राह्यता मिल सकती है। ऐसा व्यक्ति इसी जीवन में अपार, अनन्त सुख-शान्ति का अनुभव कर सकता है।

"सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" शीर्षक से हमारा एक अन्य ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। उसमें प्रकाशित "आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि" में हमने आदर्श सामाजिक व्यवस्था का, "भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण" में पूरे विश्व को अपने प्रभामण्डल में समेटे भारतीय वाङ्मय का तथा "समग्र भारतीयता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" में भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट अवदानों का उल्लेख किया है। क्या विश्वशान्ति की प्रतिष्ठा में इनका कोई उपयोग हो सकता है?



विषय सूची



तन्त्रागम सार सर्वस्व

प्रणम्य परमं तत्त्वं सततोदितरूपिणम्।
तन्त्रागमानां सर्वस्वं व्याख्यास्ये स्वात्मतुष्टये॥

उपक्रम

आगम और तन्त्र शब्दों के अर्थ को हमने अनेक स्थलों पर परिभाषित किया है। स्रोतस् (चार, पाँच या छः भेद), अनुस्रोतस् (सात भेद), आगम-निगम, आम्नाय (चार, पाँच या छः भेद), श्रुति (वैदिकी व तान्त्रिकी), षड् दर्शन (जैन एवं बौद्ध) जैसे अवान्तर विभागों का परिचय भी हमने दिया है। इनके साथ ही हमने अपने ग्रन्थ ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त तन्त्रों का धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक स्वरूप भी विस्तार से बताया है। ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो जाने से हम उस समय इन सबमें निरूपित विषयों की तुलनात्मक समीक्षा न कर सके। इस छूटे हुए कार्य को अब पूरा करते हुए हम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

आगम और तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख विषयों को तीन विभागों में बाँट कर उनके साम्य-वैषम्य की समीक्षा यहाँ की गई है। आगम और निगम की परिभाषा में भी यह साम्य-वैषम्य देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन आचार्य आगम शब्द का प्रयोग सर्ववर्णविषयक शास्त्रों के लिए और निगम शब्द का प्रयोग त्रैवर्णिक शास्त्रों के लिए करते हैं। क्रमशः इनके लिए तान्त्रिकी और वैदिकी श्रुति का भी प्रयोग होता है, किन्तु अनेक स्थलों पर उद्धृत निम्न दो श्लोक इनका भिन्न ही अर्थ करते हैं। यथा—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥
निर्गतं गिरिजावक्त्राद् गतं च गिरिशश्रुतौ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मान्निगय उच्यते॥

इनके अनुसार शिव के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र आगम और शक्ति के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र निगम कहलाते हैं। हम जानते हैं कि कौल प्रकृति के शास्त्रों का उपदेश शिव ने शक्ति को और क्रम दर्शन के शास्त्रों का शक्ति ने शिव को दिया है, किन्तु इन सभी शास्त्रों को आगम या तन्त्र के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। स्पष्ट है कि निगम शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय के लिए ही होता है।

शब्दों के अर्थों में परिवर्तन नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भगवान् शिव के लिए प्रयुक्त घृणानिधि शब्द में आये घृणा शब्द का अर्थ आजकल कृपा नहीं रह गया है। इसके विपरीत उक्त वचन के रहते हुए भी निगम शब्द के अर्थ में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

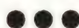
उक्त ग्रन्थ में प्रसंगवश कुलाम्नाय (कुलोदय, कुलव्याप्ति, कुलौघ), कृतान्तपंचक, क्रम, चत्वर, प्रत्यभिज्ञा, महार्थ, लिंगायत, शुद्धि, सिद्ध, सिद्धान्त, स्थण्डिल, स्पन्द, हार्धकला जैसे अनेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को भी स्पष्ट किया गया है। पूजा (पूजन) के यहाँ बाह्य और आभ्यन्तर (बाह्ययाग और अन्तर्याग) नामक दो मोटे भेद किये गये हैं। अर्चन, आराधन(ना), उपासना, याग, वरिवस्या जैसे इसके पर्यायवाची शब्द हैं। वरिवस्या शब्द का प्रयोग अन्तर्याग (मानसयाग = हृद्याग) के लिए प्रधानतः किया जाता है। बाह्य उपासना प्रधानतः कुम्भ, मण्डल, बिम्ब (प्रतिमा) और अग्नि नामक चार स्थानों में की जाती है। अग्नि की उपासना अग्नि-समाराधन के नाम से प्रसिद्ध है और अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (६. २-४) में मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति—इन ११ बाह्य स्थानों की चर्चा की है। जयरथ ने इन शब्दों के अर्थों को स्पष्ट किया है। इनमें स्थण्डिल की भी चर्चा है। लोक में इस शब्द से 'सती माई का चौरा' का बोध होता है। चत्वर के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। स्थण्डिल पर हवन भी किया जाता है। आजकल कुण्ड के स्थान पर स्थण्डिल का अधिक प्रचलन है। पारमेश्वरागम (४. २-४) में स्थण्डिल के तीन और कुण्ड के पाँच भेद बताये गये हैं। चतुरस्र, त्र्यस्र और वृत्त—ये तीन स्थण्डिल के प्रकार वहाँ वर्णित हैं। कुण्डों के आठ भेद सामान्यतया मान्य हैं।

''उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥'' (८. ६. २८) ऋग्वेद के इस मन्त्र में गिरिगुहा और नदीसंगम नाम के दो पूजा-स्थानों का उल्लेख है। 'संगथे' के स्थान पर 'संगमे' पाठ के साथ यह मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद (२६.१५) में भी उपलब्ध है। पाशुपत मत में गुरु, जन, गुहा, श्मशान और रुद्र—ये पाँच देश के भेद बताये गये हैं। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची के द्वारा संपादित कौलज्ञाननिर्णय में एकलिंग, श्मशान, नदीसंगम, शून्यागार, गुहावास, वृक्षमूल, चत्वर, महोदधि, चतुष्पथ और त्रिपथ जैसे पूजा-स्थानों का भी उल्लेख है। इन स्थानों के आध्यात्मिक अर्थों को भी वहाँ देखा जा सकता है। पर्वताग्र, नदीतीर जैसे स्थानों की भी शास्त्रों में चर्चा मिलती है।

इन पवित्र स्थानों में हम पीठों और मठों का भी समावेश कर सकते हैं। विविध शास्त्रों में तीन से लेकर १०८ संख्या तक के पीठों की चर्चा मिलती है और इसी तरह से आमर्दक आदि प्राचीन मठ-स्थानों का भी उल्लेख मिलता है। इन शैव मठों में आराधना-रत शिव-शंभु नामान्त शैवाचार्यों की लम्बी परम्परा का उल्लेख शास्त्रों में ही नहीं, शिलालेखों में भी हुआ है। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में—''आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताश्च योगिशब्दान्ताः'' (२९.३६) इन षड्विध ओवल्लियों की, गुरु-शिष्य परम्परा की चर्चा है। इनमें शैवों, शाक्तों और बौद्धाचार्यों की परम्परा समाविष्ट है। कुल, क्रम, त्रिक, मत, त्रिपुरा आदि सम्प्रदायों की गुरुपंक्ति को भी उक्त ग्रन्थ के विभिन्न अधिकारों में देखा जा सकता है।

वैष्णवाधिकार में वहाँ प्रधानतः वैखानस, पांचरात्र और भागवत सम्प्रदायों का तथा शैवाधिकार में पाशुपत, कालामुख, कापालिक, कौल, सिद्धान्त, प्रत्यभिज्ञा और वीरशैव मतों का विस्तार से परिचय दिया गया है। इसी तरह से विभिन्न शाक्त, बौद्ध, जैन और षडायतन स्मार्त सम्प्रदायों का परिचय भी वहाँ दिया गया है। अभी काशी के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से सर्वात्मशंभु-रचित सिद्धान्तप्रकाशिका का प्रकाशन हुआ है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में आगमाधारित और निगमाधारित शास्त्रों का परिचय दिया गया है। इस सिद्धान्त-प्रकाशिका और मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद की सहायता से यह कार्य किया गया है। कुछ विद्वान् भारतीय तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं पर विदेशी प्रभाव की बात करते हैं। आतिमार्गिक विभाग में उनका समावेश हो जाने से इस कथन को मान्यता नहीं दी जा सकती।

इसी तरह से अन्य विद्वान् सिद्धान्तशैव दर्शन के दक्षिण भारतीय उद्भव को मान्यता देते हैं। डॉ० कृष्णकान्त हाण्डीकी ने ''यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर'' में और डॉ० एस० एन० दासगुप्त ने ''हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी'' के ५वें भाग में शैवसिद्धान्त दर्शन का परिचय भोजदेव और कुमारदेव के ग्रन्थों के आधार पर दिया है। डॉ० दासगुप्त कुमारदेव को अस्थिरचित्त बताते हैं। इन सबका प्रतिवाद हमने अष्टप्रकरण के संस्कृत उपोद्घात (पृ. १८-२१) में सयुक्तिक किया है।



प्रथम अध्याय

दीक्षा-अभिषेक और मन्त्र-मातृका का स्वरूप

दीक्षा और अभिषेक

सामान्य विषयों की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद अब हम अपने मुख्य विषय में प्रवेश करते हैं। वैदिक श्रुति में जो स्थान उपनयन संस्कार का है, तान्त्रिक श्रुति में वही स्थान दीक्षा संस्कार का है। मतंगपारमेश्वर (वि. ४. ५८-५९) में दीक्षा पद की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है कि जिसकी सहायता से सम्यक् ज्ञान का दान और मलों का क्षय होता है, उसे दीक्षा कहते हैं। दीयते और क्षीयते, अर्थात् 'दा दाने' और 'क्षि क्षये' इन दो धातुओं से दीक्षा शब्द बनता है। इस अभिप्राय के बोधक **दीक्षा** पद की निरुक्ति बताने वाले अनेक वचन शास्त्रों में मिलते हैं। मृगेन्द्रागम के अनुसार दीक्षा, परम विश्लेष, पाशच्छेद, निरोधन, परा शुद्धि, बलव्यक्ति, परम निष्कृति—ये सब दीक्षा के पर्याय माने गये हैं (क्रि. ८. १०१-१०२)। नेत्रतन्त्र (१९.१६१) में दान-क्षपण स्वरूप स्वातन्त्र्य शक्ति ही दीक्षा कही गई है। प्राय: सभी तन्त्रों में दीक्षा का यही स्वरूप स्वीकृत है।

वैखानस मत में दीक्षा की पद्धति भिन्न प्रकार की है। यहाँ साक्षात् विष्णु ही दीक्षा देते हैं और इन दीक्षितों को **गर्भवैष्णव** कहा जाता है। यहाँ दीक्षा का अलग से कोई विधान नहीं है। दीक्षा के स्थान पर यहाँ गर्भ में ही चक्रसंस्कार किया जाता है और विष्णुबलि के रूप में वह विख्यात है। वैखानस गर्भ के आठवें मास में सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ इस संस्कार को भी करते हैं। इस क्रिया में हवन आदि कर लेने के उपरान्त गर्भिणी को विष्णुचक्र से संस्कृत पायस (खीर) खिलाया जाता है। वाल्मीकिरामायण में वर्णित पायस-प्रदान से हम इसकी तुलना कर सकते हैं। इस संस्कार के उपरान्त स्वयं भगवान् विष्णु उस शिशु को शंख, चक्र आदि से चिह्नित करते हैं। पांचरात्र आगमों में वर्णित तप्तमुद्रा से शरीर का अंकन यहाँ सर्वथा वर्जित है। वैखानस मत में तप्तमुद्रा, मन्त्र-दीक्षा आदि का कोई विधान नहीं है और भगवान् नारायण के अतिरिक्त कोई गुरु भी नहीं है।

क्रियाधिकार नामक ग्रन्थ में मानसिकी, वाचिकी और शारीरिकी त्रिविध दीक्षा वर्णित है। इनमें भूतशुद्धि आदि से **मानसिकी**, चक्राब्ज-मण्डल में

मन्त्रजप आदि से साधित **वाचिकी** तथा तप्तचक्र, मुद्रा आदि से अंकित **कायिकी** दीक्षा कहलाती है। यहाँ बताया गया है कि यह तृतीय दीक्षा वैखानस मत में स्वीकृत नहीं है।

आनन्दसंहिता (८.२४-३०) में इनसे भिन्न त्रिविध दीक्षा वर्णित है। विष्णुबलि की अग्नि में चक्र को तपा कर पायस रूपी हवि को उससे अंकित कर गर्भिणी को जो पायस पिलाया जाता है, उसे **गर्भचक्र** दीक्षा कहते हैं। उपनयन के समय की अग्नि में तप्तचक्र से कन्धों को अंकित करने को बाह्य **तप्तचक्र** दीक्षा और दो भुजाओं पर जल से चक्र का आकार बनाने को **न्यासचक्र** दीक्षा कहा जाता है। इन त्रिविध दीक्षाओं में औखेय, अर्थात् वैखानसों के लिए गर्भचक्र दीक्षा विहित है। यहाँ बताया गया है कि बाह्य तप्त-चक्र मुद्रा पांचरात्र मत में और न्यासचक्र दीक्षा भागवतों में प्रचलित है। इस तरह से त्रिविध वैष्णवों के लिए यहाँ इन त्रिविध दीक्षाओं का विधान है।

पांचरात्र आगमों में दीक्षा और अभिषेक की विशद चर्चा मिलती है। सात्वतसंहिता के हमारे संस्कृत उपोद्घात (पृ० ५४-६४) में और ''भारतीय तन्त्रशास्त्र'' (पृ० ४२३-४६१) में समाविष्ट डॉ० अशोककुमार कालिया के 'पांचरात्र दीक्षा का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध में दीक्षा से सम्बद्ध विविध पक्षों का वर्णन मिलता है। तन्त्रागमशास्त्र में सर्वत्र सद्गुरु और सच्छिष्य का लक्षण, देश-काल विचार, दीक्षा के भेद, दीक्षा की विधि, अधिवासन, मण्डप-मण्डल निर्माण, अंकुरार्पण, पवित्रारोपण जैसे विषय संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णित हैं। अधिवासन, स्वप्नविचार, दन्तकाष्ठभक्षण, दीक्षित के द्वारा पालनीय समय (नियम) जैसे दीक्षा-संस्कार से संबद्ध विषयों का स्वरूप डॉ० अशोककुमार कालिया के उक्त निबन्ध में सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। पांचरात्रागम में दीक्षित व्यक्ति एकान्ती, पांचरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत, पांचकालिक जैसे नामों से जाना जाता है।

लक्ष्मीतन्त्र (४१.९-१०) में त्रिविध दीक्षा का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—१. महामण्डल में इष्टदेवता की आराधना के द्वारा, २. केवल हवन के द्वारा अथवा ३. केवल वाणी के द्वारा यह दीक्षा दी जाती है। प्रथम विधि से धनाढ्य को, दूसरी विधि से सामान्य गृहस्थ को और तीसरी विधि से द्रव्यहीन को दीक्षित किया जाता है। यहाँ की प्रथम विधि का परिचय देते समय डॉ० कालिया ने चक्राब्जमण्डल और भद्रकमण्डल का स्वरूप सचित्र दिया है और

पूना के डॉ० प्रभाकर आपटे ने उसी ग्रन्थ (पृ. ४७७-४८१) में प्रकाशित 'मण्डलाकृति विमर्श' शीर्षक निबन्ध में मण्डलों के निर्माण की पद्धति को सप्रमाण समझाया है। पांचरात्र आगम के समान ही शैव सिद्धान्तशास्त्र, वीरशैव मत और बौद्ध-जैन तन्त्रों में भी मण्डलाराधन की विधि का विस्तार से वर्णन हुआ है। इन सभी मतों में मण्डलों की रचना कर उन्हीं में दीक्षा-संस्कार किया जाता है।

समय के परिवर्तन के साथ परात्रीशिका जैसे कौल मत के ग्रन्थों (श्लो. १८) में कहा गया है कि मण्डलों का दर्शन किये बिना भी व्यक्ति दीक्षित होकर सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसिद्धि जैसे बौद्ध ग्रन्थों (प. १५, पृ. १४४) में भी इसी पद्धति से बिना ही मण्डल में प्रविष्ट हुए दीक्षा का विधान है। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि मण्डल-प्रवेश का सिद्धान्त आवश्यक नहीं रह गया और परिणामस्वरूप अब मण्डलाराधन की विधि लुप्त-सी हो गई है। कुछ गिने-चुने विद्वान् ही अब मण्डल-रचना की विधि को जानते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में सर्वतोभद्र आदि मण्डलों के रूप में इसका प्रवेश अवश्य हो गया है।

पांचरात्र आगम में दीक्षित व्यक्ति की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। उनके नाम समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य हैं। प्रथमतः गुरु दीक्षा देते समय शिष्य को कुछ समयों (नियमों) का उपदेश करता है। उनका पालन करने वाला शिष्य **समयी** कहलाता है। समयों का नियमपूर्वक पालन करने वाले शिष्य को आचार्य पुत्रवत् स्वीकार कर लेता है। ऐसा शिष्य **पुत्रक** कहलाता है। गुरु के द्वारा उपदिष्ट पद्धति से मन्त्रजप आदि की सहायता से अपने इष्टदेव की आराधना से लगा हुआ शिष्य **साधक** कहलाता है। अन्त में यही साधक गुरु की कृपा से **आचार्य** पदवी को प्राप्त कर लेता है। शैव और शाक्त तन्त्रों में भी इसी रूप में ये वर्णित हैं। आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित गुरु अन्य व्यक्तियों को दीक्षा देने में समर्थ हो जाता है। समयी, पुत्रक तथा साधक को यह अधिकार नहीं मिलता। शैव, शाक्त आदि आगमों में भी पूर्णाभिषिक्त गुरु को ही दीक्षा देने का अधिकार है।

बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा के स्थान पर अभिषेक पद प्रयुक्त हुआ है। विप्रभिक्षु के नाम से प्रसिद्ध धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (१.२६०-२७३) में प्रबल युक्तियों के सहारे दीक्षा-संस्कार का खण्डन किया है। तत्पश्चात् सभी बौद्ध तन्त्रों में

दीक्षा पद के स्थान पर अभिषेक पद का प्रयोग होने लगा। अन्य तन्त्रों में इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। धर्मकीर्ति के इस मत का क्षेमराज ने खण्डन किया है। इन दोनों ही पक्षों का स्वरूप 'धी:' पत्रिका में प्रकाशित हमारे निबन्ध "दीक्षाविषयक सौगत पक्ष पर क्षेमराज का दृष्टिकोण" (अंक १, पृ. १०६-११२) में देखा जा सकता है।

जयाख्यसंहिता में केवल आचार्य के ही नहीं, समयी आदि के भी अभिषेक का विधान है। वहाँ बताया गया है—"समयी का सेनापति की तरह, पुत्रक का महामन्त्री की तरह, साधक का युवराज की तरह और आचार्य का राजा की तरह अभिषेक करना चाहिए" (१८. ३४-३५)। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जयाख्या के १६वें पटल में दीक्षा का और १८वें पटल में अभिषेक का विधान वर्णित है। इसी पद्धति से सभी शैव-शाक्त शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकरणों में इनका वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में सात्वतसंहिता के भाष्यकार ने दो पक्षों की चर्चा की है। तदनुसार सात्वता में केवल आचार्याभिषेक का विधान है और जयाख्या में, जैसा कि ऊपर बताया गया, चारों प्रकार के शिष्यों का अभिषेक विहित है।

पाद्मतन्त्र में आचार्यकुल में उत्पन्न व्यक्तियों के ही अभिषेक का विधान होने से हमें अभिषेक के दो प्रकार मानने होंगे। उनमें से पहिला प्रकार दीक्षा का और दूसरा अधिकार की प्राप्ति का अंग माना जायगा। यहाँ पहिला सामान्याभिषेक और दूसरा पूर्णाभिषेक कहलायेगा। इनमें सामान्याभिषेक दीक्षा का अंग है और पूर्णाभिषेक दीक्षा देने के अधिकार को प्राप्त कराता है, अर्थात् इससे आचार्य को अन्य व्यक्तियों को दीक्षित करने का अधिकार मिल जाता है। शाक्त तन्त्रों में पूर्णाभिषिक्त आचार्य ही परीक्षित योग्य शिष्यों को दीक्षित कर सकता है, अत: पूर्णाभिषेक योग्य आचार्य का ही किया जाता है।

पाशुपत मत की गणकारिका (श्लो. २, ५) में दीक्षाकारीगण के अन्तर्गत द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु की गणना की गई है, अर्थात् ये पाँच दीक्षा के कारक तत्त्व हैं। इनकी सहायता से शिष्य की आत्मा के निर्मल होने पर उसे दीक्षा की पात्रता मिलती है। इनमें से **द्रव्य** में **विद्या, कला** और **पशु** समाविष्ट हैं। शिष्य में विद्यमान **विद्या** उसे दीक्षा का अधिकार प्रदान करती है और आचार्यगत **विद्या** दीक्षा का सम्पादन कराती है। **कला** में दर्भ, भस्म, चन्दन, सूत्र, पुष्प, धूप और मन्त्र का समावेश है। ये दीक्षा के अंग हैं। **पशु** का अर्थ

संस्कार-योग्य ब्राह्मण है। दीक्षा का **काल** पूर्वाह्न माना गया है। कारणमूर्ति (शिवप्रतिमा) और शिष्य का संस्कार **क्रिया**[१] कहलाती है। शिवमन्दिर में शिवलिंग के समीप दक्षिण दिशा में विद्यमान भूप्रदेश को **मूर्ति** कहते हैं। तन्त्रालोक (६. २-४) की व्याख्या में जयरथ ने गुरु के बिम्ब के लिए मूर्ति और देवता के बिम्ब के प्रतिमा शब्द की प्रवृत्ति बताई है। सुपरीक्षित ब्राह्मण का दीक्षाविशेष से और पंचार्थज्ञान से संस्कार करने वाला व्यक्ति **गुरु** कहलाता है।

इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय यह है कि विद्यासंपन्न गुरु शिष्य की परीक्षा कर दर्भ आदि कलाओं की सहायता से शिष्य के पशुभाव की निवृत्ति के लिए उसको देव-मन्दिर में बैठाकर उसका संस्कार करता है। यह संस्कार ही दीक्षा के नाम से जाना जाता है। यही है पाशुपत मत में दीक्षा का स्वरूप।

सिद्धान्तशैव मत तथा अन्यत्र भी दीक्षा के लिए मलपरिपाक, कर्मसाम्य और शक्तिपात की अपनी-अपनी पद्धति से आवश्यकता दिखाई गई है। मतंगपारमेश्वर के प्रमाण से दीक्षा पद की निरुक्ति बताई जा चुकी है। उसका अभिप्राय यह है कि योग्य गुरु के द्वारा प्रदत्त दीक्षा से योग्य शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसके सभी प्रकार के मलों का नाश हो जाता है। दीक्षा का महत्त्व बताते हुए मतंग (क्रि. १.२) में बताया गया है कि जिन व्यक्तियों की प्रवृत्ति विद्या के प्रति नहीं होती, उनके लिए सरल उपाय के रूप में दीक्षा का विधान शास्त्रों में है। मुद्रा, मण्डल, मन्त्र, क्षेत्र, द्रव्य और साधक—ये छ: दीक्षा के अंग माने गये हैं (म. क्रि. १.४)। यहाँ के पूरे प्रथम पटल में इनका विस्तार देखा जा सकता है। अभिषेक के विषय में पांचरात्र मत के समान यहाँ भी दो पक्ष मान्य हैं कि समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य में से सभी का अभिषेक किया जाता है अथवा केवल आचार्य का ही। अभिषेक के अयोग्य व्यक्तियों की भी सूचना देव्यायामल जैसे ग्रन्थों में मिलती है।

दीक्षा और अभिषेक में ज्ञानवान् गुरु को ही वरीयता दी गईं है। ज्ञानवान् गुरु को ही आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित किया जाता है। दीक्षोत्तर में ज्ञानसम्पन्न

---

१. नेत्रतन्त्रोद्योत (१६. ७७-८०) में क्षेमराज ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका भाव यह है कि क्रिया के बिना ज्ञान की और ज्ञान के बिना क्रिया की कोई स्थिति नहीं है। इन दोनों से सम्पन्न गुरु ही पशु के पाश को काटने में समर्थ हो पाता है। इसी तरह क्रिया योग से भी भिन्न नहीं है। तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर साधक के चित्त की सभी वासनाओं की शान्ति ही वास्तविक क्रिया, अर्थात् दीक्षा कहलाती है।

गुरु को वरीयता देने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि उसके लिए **सप्तसत्री** का प्रवर्तन आवश्यक है। दीक्षा, व्याख्या, कृपा, मैत्री, शास्त्रचिन्ता, शिवैकता और अन्नदान—ये सात **सत्र** माने गए हैं (तन्त्रा. २३.२२-२३)। मालिनीमत (३.५६) में रुद्र, रुद्रशक्ति और गुरु को समान माना गया है।

गुरु-शिष्य

पाशुपत मत की गणकारिका में [२]पाँच-पाँच भेद वाले आठ और तीन भेद वाले एक—कुल नौ गणों के वेत्ता और शिष्य को दीक्षा संस्कार से सम्पन्न करने वाले को **गुरु** कहा गया है। शैवशास्त्रों में गुरु पद की निरुक्ति बताते हुए कहा गया है कि सारे विश्व के व्यवहार के प्रकाशक, सब पर अनुग्रह करने वाले परमशिव भट्टारक ही मुख्य गुरु हैं। भगवान् शिव ही स्वात्मस्वरूप महान् प्रमाता के रूप में गुरु का स्वरूप धारण कर लेते हैं, "गुरु का लक्षण यही है कि वह [३]आदि और अन्त की योजना का प्रकार बताते हैं" श्रीकण्ठीसंहिता के इस वचन में और "जिससे दीक्षा, मन्त्र और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, वही गुरु है" इस आनन्दशासन के वचन में भी गुरु का लक्षण बताया गया है।

आचार्य, आचार्याभास, गुरु और शिष्य के लक्षण गणकारिकाव्याख्या (पृ. ४, ६-९) और कौण्डिन्य-भाष्य (पृ. ३-४) में मिलते हैं। शिवधर्मोत्तर के एक वचन में बताया गया है कि शिष्य की योग्यता के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत अथवा देशी भाषा के माध्यम से जो शास्त्रों को समझाता है, वही **गुरु** कहलाता है। शास्त्रों में आचार्य के कर्मी, ज्ञानी और योगी नामक तीन भेद बताये गये हैं। आर्यदेव ने चित्तविशुद्धिप्रकरण (श्लो. १२७) में तथा तन्त्रालोक (४.२४४) की टीका में जयरथ ने गुरु के गुणों के ग्रहण और दोषों के परिहार की बात कही है। वहाँ बताया गया है कि गुरुजन जो करते हैं, उनका अनुकरण न कर वे जो कहते हैं, उसे माने। तैत्तिरीय उपनिषत् (१ . ११. २-३) का भी कहना है कि गुरु के सुचरित का ही पालन करना चाहिए, इतर कर्मों का नहीं।

गुह्यसिद्धि (१. ३१-५२) में बताया गया है कि गुरु की निन्दा करने वाले को तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु और वज्रधर को अभिन्न मानने वाला

---

२. गणकारिका और उसकी भासर्वज्ञ की व्याख्या ने इनका परिचय मिल सकता है।

३. "गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं तु योजयेत्" इस वचन के अनुसार गुरु ही आदिमान्त्यविहीन मन्त्र के सही स्वरूप को बता सकता है।

शिष्य ही सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपा से ही तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। तत्त्व को जानने की विधि गुरु के मुख से ही जानी जा सकती है।

असत् शिष्यों का यहाँ बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया गया है कि ये लोग जब तक कुछ हाथ नहीं लग जाता, तब तक गुरु का बड़ा स्वागत-सत्कार करते हैं, किन्तु अभीष्ट सिद्धि हो जाने पर गुरु को पहिचानते भी नहीं। अकेले में तो गुरु को प्रणाम करेंगे, किन्तु समाज में वे उनका स्वागत करने में भी कतराते हैं। इस विषय का विस्तार अद्वयसिद्धि, प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि आदि में देखा जा सकता है।

शास्त्रों में दीक्षा के अनन्त भेद वर्णित हैं, किन्तु उनमें पंचविध दीक्षा का विशेष महत्त्व है। भैरवकुल के एक वचन के अनुसार सिद्धान्त मत में हौत्री दीक्षा, क्रम आदि तन्त्रों में योजनिका, त्रिक में समावेशवती, कुल में स्तोभात्मिका और कौल मत में सामरस्यमयी दीक्षा का विशेष विधान है। वेध, क्षोभ, आवेश, सन्धान जैसे पदों का अर्थ तन्त्रालोक (२९. १९६-२११, २३७-२४७) में देखा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थ नेत्रतन्त्र (१६. ७४-७५) में दीक्षा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि यह पाशों (त्रिविध मलों) का समूल नाश कर परमपद प्रदान करती हैं। योजनिका क्रम से गुरु शिव और शक्ति के प्रभाव से शिष्य को परमपद में प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो जाता है। माया से आवृत, अत्यन्त मलिन, भोग में आसक्त, नाना प्रकार की अभिलाषाओं से घिरे हुए व्यक्ति को भी यह क्रिया और ज्ञान से सम्पन्न दीक्षा भोग और मोक्ष प्रदान करती है। ज्ञानरूपा, अवधूती, उन्मना नामक परा शक्ति को ही यहाँ [४]**क्रिया** कहा गया है। इस शक्ति से सम्पन्न गुरु ही दीक्षा देने में समर्थ हो सकता है।

वीरशैव मत के कारणागम (१.१३-१५) में वेधा, मान्त्री और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा का स्वरूप वर्णित है। वहाँ (१.२०) बताया गया है कि गुरु स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक त्रिविध तनु में, शरीर में स्थित कार्म, मायीय और आणव नामक त्रिविध अनादि मलों का इन त्रिविध दीक्षाओं के द्वारा नाश कर देता है। हस्त और मस्तक के संयोग और दृष्टि के द्वारा वेध करने को वेधा

---

४. ऊपर की पहली टिप्पणी देखिए।

दीक्षा, गुरु के द्वारा शिष्य के कानों में मन्त्रोपदेश करना मान्त्री दीक्षा तथा शिष्य के हाथ में इष्टलिंग का प्रदान करना क्रिया दीक्षा कहलाती है। इन त्रिविध दीक्षाओं में से प्रत्येक के सात-सात भेद वहाँ वर्णित हैं। इस प्रकार वीरशैव मत में २१ प्रकार की दीक्षाओं का विधान है। मण्डप-मण्डल-स्थण्डिल की चर्चा के साथ यहाँ दीक्षा का विधान स्पष्ट रूप से दिया गया है।

बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा के स्थान पर अभिषेक का विधान है, यह बताया जा चुका है। अभिषेक अथवा सेक के लक्षण एवं भेदों के विषय में बौद्ध तन्त्रों में पर्याप्त विचार किया गया है। त्रिविध, चतुर्विध, पंचविध, सप्तविध और एकादश-विध अभिषेकों के नाम और लक्षण वहाँ सुस्पष्ट रूप से दिये गये हैं। त्रिविध सेक में कुंभ, गुह्य और प्रज्ञाज्ञान की तथा चतुर्विध अभिषेक में बाल, प्रौढ़, वृद्ध और प्रजापति नामों की गणना की जाती हैं। ये चारों अभिषेक क्रमशः कुंभ, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान और चतुर्थ कहलाते हैं। सहज शब्द के विवरण में सहजाभिषेक को भी चतुर्थाभिषेक कहा गया है। इसीको लोकोत्तराभिषेक भी कहते हैं। एकादश अभिषेकों में इसका अन्तिम स्थान है। चतुर्थाभिषेक स्थित चतुर्थ शब्द के हेवज्रतन्त्र के टीक्ताकार ने अनेक अर्थ किये हैं और बताया है कि इस अभिषेक के बाद ही योगी को महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि टीकाकार सहजाभिषेक को ही चतुर्थाभिषेक मानते हैं।

कुंभाभिषेक अथवा कलशाभिषेक के उदक, मुकुट, वज्र, घंटा, नाम और आचार्य नामक छः भेद माने जाते हैं। इन सभी में कलश की स्थापना अनिवार्य होने से इनको यह नाम दिया गया है। इनमें से प्रथम पाँच अभिषेक आदर्श आदि पंचज्ञानात्मक एवं अक्षोभ्य आदि पंचबुद्धात्मक हैं। आचार्याभिषेक का भी इनमें परिगणन करने पर ये षट्तथागत स्वभाव हो जाते हैं। आचार्याभिषेक हो जाने पर साधक को वज्रसमय, घण्टासमय, मुद्रासमय, भव्यतानुज्ञा, व्रतव्याकरण और आश्वासप्रदान का अधिकार मिल जाता है। अद्वयवज्रसंग्रह नामक ग्रन्थ में इन सब शब्दों का विवरण दिया गया है। दीक्षा या अभिषेक के बाद शिष्य को नया नाम देने की विधि सभी सम्प्रदायों में मान्य है।

कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा में अभिषेकों के प्रणमतः लौकिक एवं लोकोत्तर नामक दो भेद किये गये हैं। इनमें लौकिक अभिषेक के उदक, मुकुट, पट्ट, वज्रघण्टा, महाव्रत, नाम और अनुज्ञा नामक सात भेद और लोकोत्तर के कलश, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान और चतुर्थ नामक चार भेद मान्य हैं। इस प्रकार यहाँ

अभिषेकों के ११ प्रकार वर्णित हैं। पूर्ववर्णित नामों से इनमें कुछ अन्तर मिलता है। विविध बौद्ध तन्त्रों में इनका विवरण देखा जा सकता है।

अन्य तन्त्रों के समान बौद्ध तन्त्रों में समयों के साथ संवरों के भी उपदेश का विधान है। इन दोनों शब्दों का स्पष्ट अन्तर समझ लेना आवश्यक है। संक्षेप में समयों का सेवन किया जाता है और संवरों का पालन। वज्रयान में समय-सेवन का अभिप्राय कुछ निश्चित द्रव्यों के सेवन से है और संवर-पालन का अभिप्राय अपने-अपने संप्रदाय में उपदिष्ट नियमों के पालन से। स्पष्ट है कि यहाँ संवर शब्द का अर्थ वही किया गया है, जो अन्य तन्त्रों में समय शब्द का है। समय शब्द का प्रयोग यहाँ भिन्न अर्थ में हुआ है।

बौद्ध तन्त्रों में कौल तन्त्रों के समान **कायपूजा** का विशेष स्थान है। इनका कहना है कि काष्ठ, पाषाण, पट, मृत्तिका आदि से बनाई गई निर्जीव देवप्रतिमा की पूजा करने की अपेक्षा इस चेतन मनुष्यशरीर में इष्टदेवता की पूजा करनी चाहिए। जब जड़ काष्ठ, पाषाण आदि में देवता का आवाहन किया जा सकता है, तो इस चेतन शरीर में तो यह सुतरां संभव है। ''स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'' त्रिपुरा-तन्त्र के इस वचन में भी यही सिद्धान्त वर्णित है। इस मनुष्य-शरीर में सभी देवता निवास करते हैं, इस बात को सभी भारतीय शास्त्रों में मान्यता मिली हुई है। पूजा के इस स्वरूप के साथ पूर्ववर्णित पूजा-स्थानों का भी अनेक तन्त्रों में उल्लेख मिलता है। सप्तमातृका की उपासना और उनके स्थलों का भी वर्णन यहाँ मिलता है। गुह्यसमाजतन्त्र के टीकाकार चन्द्रकीर्ति ने श्मशान, शून्यागार, चतुष्पथ, एकलिंग और एकवृक्ष को मातृकाओं का गृह बताया है। इन पाँच नामों में पर्वताग्र और नदीतीर को जोड़ देने पर यह संख्या सात हो जाती है। इन स्थानों की चर्चा पहले हो चुकी है। सप्तमातृकाओं की पूजा गणदेवता के रूप में एक साथ की जाती है। इनकी मूर्तियों और मन्दिरों की भी यही स्थिति है। इन स्थानों को पूरे तान्त्रिक वाङ्मय में ही नहीं, योगशास्त्र के विविध पक्षों में भी मान्यता मिली हुई है।

भैरवपद्मावतीकल्प जैन तन्त्रशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके अब तक एकाधिक संस्करण हो चुके हैं। इस पर मोहनलाल भगवान्दास झवेरी का अंग्रेजी भाषा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अतिविस्तृत उपोद्घात प्रकाशित हुआ था। ''कम्परेटिव एण्ड क्रिटिकल स्टडी आफ मन्त्रशास्त्र'' शीर्षक से इसका अलग से भी प्रकाशन हो चुका है। यहाँ तन्त्रशास्त्र के प्रतिपाद्य दीक्षा-अभिषेक

आदि विषयों के साथ गुरु, यन्त्र, मण्डल, मुद्रा, पूजा, भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, मन्त्रजाप, मन्त्र-पुरश्चरण (पूर्वसेवा-उत्तरसेवा), होम, तर्पण जैसे विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया था। वहाँ दीक्षा के लिए **वाचना** शब्द प्रयुक्त हुआ है और मन्त्र, मातृका, मुद्रा, पीठ, बाह्य और आन्तर पूजा जैसे विषयों पर भी जैन तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से विशद प्रकाश डाला गया है।

षोडशकप्रकरण में दीक्षा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है— "श्रेयोदानादशिवक्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति" (१२.२)। दीक्षा का यह लक्षण दान और क्षपण के आधार पर सभी तन्त्रों में निर्दिष्ट दीक्षा शब्द के अर्थ के साथ पूरी तरह से मेल खाता है। जैन दीक्षा (वाचना) और अभिषेक के विषय में "भारतीय तन्त्रशास्त्र" (पृ. २३९-२४४) में अच्छा प्रकाश डाला गया है। भैरव-पद्मावतीकल्प के आधार पर हम कह सकते हैं कि जैन तन्त्रों और त्रिपुरा तन्त्रों में बहुत कुछ समानता है। पशु, विज्ञानकेवल, सिद्ध जैसे शब्दों के आधार पर हम सिद्धान्तशैव तन्त्रों से भी इनकी तुलना कर सकते हैं।

अधिवास अथवा अधिवासन दीक्षा संस्कार का आवश्यक अंग है। दीक्षा-दिवस की पूर्वरात्रि में यह सम्पन्न होता है। दीक्षणीय शिष्य नियमपूर्वक रात्रि-जागरण करता है और रात्रि के उत्तरार्ध में आँख छपकने पर उसके देखे गये स्वप्न के आधार पर किसी मन्त्र की दीक्षा का स्वरूप निर्धारित होता है। इसी तरह प्रातःकाल दन्तधावन के अनन्तर दन्तकाष्ठ के निक्षेप के आधार पर तथा मण्डल में पुष्पपात के आधार पर भी दीक्षा का स्वरूप निर्धारित होता है। शिष्य को किस मन्त्र की दीक्षा दी जाय, इसका विधान भी शास्त्रों में निर्दिष्ट है।

दीक्षा का अधिकारी कौन हो, इस विषय में पर्याप्त मतभेद देखने को मिलते हैं। वैखानस और पाशुपत मत में दीक्षा का अधिकार त्रैवर्णिक तक ही सीमित है, ऐसा लगता है। पांचरात्र मत में उस सच्छूद्र को भी यह अधिकार दिया गया है, जिसके वंश में मद्यपान निषिद्ध हो। सिद्धान्तशैवागम के प्रसिद्ध आचार्य सद्योज्योति शिवाचार्य का कहना है कि दीक्षा में साधक के रूप में तो चारों वर्णों का अधिकार है, किन्तु गुरु के रूप में दीक्षा देने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है (मोक्षकारिका, श्लो. ८९)। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थ नेत्रतन्त्र (२२.७२) के टीकाकार क्षेमराज ने कामिकागम के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नपुंसक, स्त्री आदि का विचार नहीं करना चाहिए, अर्थात् दीक्षा सभी को दी जा

सकती है। आचार्य को चाहिए कि वह ज्ञान देते समय पात्र का विचार करे, क्योंकि शिवज्ञान से सम्पन्न होना ही गुरु का मुख्य लक्षण है। अनेक स्थलों पर उद्धृत कालपादासंहिता के वचन के अनुसार श्वपचों को भी दीक्षा दी जा सकती है। गुरु में ज्ञान की प्रधानता का उल्लेख दीक्षोत्तरागम में भी किया गया है। शिष्य में श्रद्धा की प्रधानता मानी गई है। जैन दीक्षा में भी बिना वर्ण, लिंग आदि के भेद के सभी को अधिकार दिया गया था और वीरशैव मत में भी श्रीपति शिवाचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में इसी सिद्धान्त को मान्यता दी है।

''देवो भूत्वा यजेद् देवान्'', ''नारुद्रो रुद्रमर्चयेत्'' यह सिद्धान्त सभी भारतीय शास्त्रों को मान्य है। सन्ध्यावन्दन आदि के अवसर पर भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा का विधान है। ''देवो भूत्वा देवानप्येति'' इस वाक्य की बृहदारण्यकोपनिषद् (४.१) में अनेक बार आवृत्ति हुई है। शतपथब्राह्मण के दर्शपूर्णमास प्रकरण के प्रारम्भ में यजमान कहता है—''इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'' (१. १. १. ४)। अनुष्ठान के अन्त में वह पुनः कहता है—''य एवास्मि सोऽस्मि'' (१. ९. ९.२३)। यहीं बताया गया है—''अनृतं वै मनुष्याः सत्यं देवाः'' (१. १. १. ४)। इन तीनों वाक्यों का अभिप्राय यह है कि यजमान मनुष्यभाव को छोड़कर और देवभाव को स्वीकार कर यज्ञ-यागादि धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवृत्त होता है तथा अनुष्ठान के समाप्त हो जाने पर वह पुनः मनुष्यभाव में आ जाता है। यहाँ मनुष्य को अनृत तथा देवता को सत्य कहा गया है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वहाँ कहा गया है—''स वै सत्यमेव वदेत'' (१. १. १. ५)। स्पष्ट है कि यहाँ देवभाव की प्राप्ति के लिए सत्यभाषण को अनिवार्य माना गया है। इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय इतना ही है कि आराधक स्वयं अपने इष्टदेव के स्वरूप के अनुरूप बन कर उसकी आराधना करे। आराधक आराध्य-स्वरूप कैसे बन सकता है? इसके लिए शास्त्रों में भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा का विधान है।

दीक्षा का मुख्य प्रयोजन षडध्वशुद्धि है। आगम-तन्त्रशास्त्र में वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन नामक षडध्व का विचार हुआ है। पार्वती-परमेश्वर स्वरूप शब्द और अर्थ से इसकी सृष्टि होती है। इस षडध्वात्मक संसार से मुक्ति पाने के लिए इसका शोधन अपेक्षित है। दीक्षा के माध्यम से गुरु इसी प्रक्रिया को पूरी करता है। अर्थात्मक भुवनाध्वा का तत्त्वाध्वा में और तत्त्वाध्वा का कलाध्वा में विलय किया जाता है। इसी तरह शब्दात्मक मन्त्राध्वा

की पदाध्वा में और पदाध्वा की वर्णाध्वा में विलय की भावना की जाती है। अन्ततः कुछ आचार्य सभी वर्णों का कलाध्वा में तथा अन्य कलाओं का वर्णों में अन्तर्भाव करते हैं। वर्णों की श्रेष्ठता मानने वाले आचार्यों के मत के अनुसार अकार की तथा कलाओं को वरीयता देने वालों के मत में शान्त्यतीत कला की परशिव में विलय की भावना की जाती है। यही है अतिसंक्षेप में षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया। इससे दीक्षित साधक संसार के बन्धन से मुक्त हो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इसी के साथ दीक्षा और अभिषेक का यह विवरण पूरा होता है। दीक्षा से संबद्ध गुरु-शिष्य, देश-काल जैसे विषयों की भी प्रसंगवश यहाँ चर्चा की गई है। अधिक विस्तार में न जाकर अब हम मातृका और मन्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

मातृका और मन्त्र

परावागात्मिका अनाहतभट्टारक परमशिव-स्वरूपा, छत्तीस तत्त्वों का प्रसार करने वाली संवित् को ही **मातृका** कहा जाता है। शब्दराशि, मातृका, मालिनी, कालिका इत्यादि शब्दों के द्वारा विभिन्न शास्त्रों में यह वर्णित है। परावागात्मिका यह मातृका ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका नामक शक्तियों के रूप में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के क्रम से विचित्र रूप धारण कर सभी वर्णों की उत्पत्ति में कारण बनती है और नाना वर्णों के नाना प्रकार के संयोजन से बने **मन्त्रों** की भी जननी है। तन्त्रसद्भाव में बताया गया है कि सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं। ये वर्ण शक्तिस्वरूप हैं। यह शक्ति ही **मातृका** है और यह शिव से अभिन्न है।

सौभाग्यसुधोदय में माति, तरति और कायति—इन तीन धातुओं से **मातृका** पद की निष्पत्ति बताई गई है। अनाहतमूर्ति शिव ही इस जगत् के रूप में दिखाई पड़ते हैं और वे ही इससे ऊपर उठ जाते हैं, अर्थात् मातृका शक्ति की सहायता से ही विश्वोत्तीर्ण शिव विश्वमय बन जाते हैं। विश्वोत्तीर्ण परमतत्त्व अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे जब इस विश्व को प्रकट करना चाहता है, तो वह सर्वप्रथम अपने भीतर शिव-शक्ति के यामलभाव को प्रकट करता है, अर्थात् अकार से लेकर हकार पर्यन्त मातृका का स्वरूप धारण कर लेता है। यहाँ अनुत्तर प्रकाश (शिव) अकार और विमर्श (शक्ति) हकार लिपि के रूप में प्रकट होते हैं। संकेतपद्धति में बताया गया है कि सभी वर्णों में प्रथम अकार

प्रकाशमय परमशिव का तथा अन्तिम वर्ण हकार शिवकला-स्वरूप विमर्श शक्ति का वाचक है। वाक्चतुष्टयात्मिका मातृका का स्वरूप वातूलनाथसूत्र और उसकी वृत्ति में दिया गया है। तदनुसार अनाहतहतोत्तीर्ण अवस्था परा वाक्, अनाहतहता पश्यन्ती, अनाहता मध्यमा और हता वैखरी कहलाती है। परा वाक् से एकादश भेद वाली पश्यन्ती, नवनादात्मिका मध्यमा और वर्णात्मिका वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति होती है।

वै निश्चित ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से, **ख** कर्ण के विवर (छिद्र) में स्थित आकाश में, **राति** पहुँचती है, इसलिये इसको **वैखरी** कहते हैं। इस वैखरी वाणी में अकार लेकर सकार पर्यन्त ४७ वर्ण स्थित हैं, ऐसा संकेतपद्धति का कहना है। इसके मत में अकार और हकार का पश्यन्ती में समावेश है और ककार एवं षकार के संयोग से क्षकार बनता है, अतः उसकी गणना वहाँ नहीं होती। इसी तरह ळकार की गणना लकार में कर ली जाती है और इस तरह से संकेतपद्धति के अनुसार वैखरी वाणी के ४७ वर्ण ही मान्य हैं। इस मत में इनके साथ मध्यमा के नौ नादों को और पश्यन्ती के ११ भेदों को मिलाने से मातृकापीठ में ६७ वर्णों की स्थिति बनती है। संकेतपद्धति के अनुसार वैखरी वाणी को हत, मध्यमा को अनाहत और पश्यन्ती को उत्तीर्ण कहा गया है। वहाँ बताया गया है कि [५]मयूराण्डरस, शिम्बिका और अयःशलाका—इन तीन न्यायों की सहायता से इनका स्वरूप जाना जा सकता है।

वर्णों की उत्पत्ति का प्रकार अभिनवगुप्त के तन्त्रसार में भिन्न प्रकार से वर्णित है। वहाँ (पृ. १२-१५) बताया गया है कि परमेश्वर की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं। ये हैं—अनुत्तर (अकार), इच्छा (इकार) और उन्मेष (उकार)। अनुत्तर की आनन्द (आकार) में, इच्छा की ईशन (ईकार) में और उन्मेष की विश्रान्ति ऊर्मि (ऊकार) में होती है। यहाँ प्रथम त्रिक प्रकाशस्वभाव होने से सूर्यात्मक तथा द्वितीय त्रिक विश्रान्तिस्वभाव आह्लादप्रधान होने से सोमात्मक है।

---

५. संकेतपद्धति और वातूलनाथसूत्रवृत्ति में इन न्यायों की सहायता से त्रिविध वाणी के स्वरूप को समझाया गया है। वृत्ति में मयूराण्डरस के स्थान पर वटधानिका न्याय दिया गया है। मोर के अंडे में और वट वृक्ष के बीच में जैसे मयूर के सभी रंग और विशाल वट छिपा रहता है, उसी तरह परा वाणी का स्वरूप मूलाधार में छिपा रहता है। मटर आदि की फली में जैसे उसके बीज छिपे हुए रहते हैं, वही स्थिति पश्यन्ती की और लोहे के जंगले में बैठे व्यक्ति की तरह मध्यमा वाणी की स्थिति है।

इनमें क्रियाशक्ति का प्रवेश नहीं होता। ऊर्मि (ऊकार) से ही क्रिया-शक्ति की प्रवृत्ति होती है। जब इच्छा या ईशन में क्रियाशक्ति प्रविष्ट होती है, तो इसके दो भेद हो जाते हैं। प्रकाश के अंश से ऋश्रुति और विश्रान्ति के अंश में लृश्रुति प्रस्फुरित होती है। इसका उच्चारण अभी अस्फुट रहता है, अतः व्यंजन के समान इसकी स्थिति नहीं रहती। इनमें स्वर और व्यंजन दोनों के धर्मों के रहने से इनको नपुंसक (षण्ढ) कहा जाता है। अनुत्तर और आनन्द का जब इच्छा और उन्मेष में प्रसार होता है, तो **ए** और **ओ** इन दो स्वरों की तथा ए और ओ से अनुत्तर और आनन्द का संघट्ट होने पर **ऐ** और **औ** की निष्पत्ति होती है। यहाँ तक क्रियाशक्ति का व्यापार चलता है। इसके बाद सारा कार्य-जगत् पुनः अनुत्तर में प्रविष्ट होना चाहेगा, किन्तु ज्ञानशक्ति की सहायता से पहले वह वेदनरूप बिन्दु में तथा उसके बाद विसर्ग के रूप में परिणत हो जाता है। ये सोलह परामर्श **बीज**-स्वरूप हैं और व्यंजनों को **योनि** कहते हैं। बौद्ध तन्त्रों में इसको **आलि** (स्वर) और **कालि** (व्यंजन) नाम दिया गया है।

व्यंजनों की उत्पत्ति की प्रक्रिया तन्त्रसार (पृ. १५-१६) में ही इस तरह से बताई गई है—अनुत्तर से कवर्ग की, श्रद्धात्मक इच्छा से चवर्ग की, सकर्मक इच्छा से टवर्ग और तवर्ग की तथा उन्मेष से पवर्ग की निष्पत्ति होती है। त्रिविध इच्छा से य र ल की तथा उन्मेष से वकार की, पुनः त्रिविध इच्छा से श ष स की तथा विसर्ग से हकार की निष्पत्ति मानी गई है। क्षकार योनि (व्यंजन) के संघट्ट से बनता है।

भगवान् अनुत्तर (अकार) ही इस स्वर-व्यंजनात्मक कुल के स्वामी (कुलेश्वर) हैं और विसर्ग उनकी शक्ति है। अनुत्तर अकार की ''अकारो वै सर्वा वाक् (२. ३. ६), और ''अ इति ब्रह्म'' (२. ३. ८), ''छन्दःपुरुष इति यमवोचामाक्षरसमाम्नाय एव, तस्यैतस्याकारो रसः'' इस तरह से ऐतरेयारण्यक में महिमा गाई गई है। संकेतपद्धति का कहना है—''अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः''। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक (९.८) और नामसंगीति (५.१) में भी ''अकारः सर्ववर्णाग्र्यः'' कहा गया है और बताया गया है कि समस्त शास्त्रों की उत्पत्ति अकार से ही होती है।

स्वर-व्यंजनात्मिका यह मातृका विभिन्न वर्गों और वर्णों में विभक्त है। प्रपंचसार के ''अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः'' इस प्रथम मंगलाचरण पद्य में सात वर्ग वाली मातृका सूचित है। शैव सिद्धान्तागम और नित्याषोडशिकार्णव

जैसे ग्रन्थों में आठ वर्ग वाली और मालिनीविजय (३.११) में नौ वर्ग वाली मातृका का निरूपण है। संकेतपद्धति का अनुसरण करने वाले आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में आठ अथवा नौ वर्ग वाली मातृका का निरूपण किया है। वीरशैव मत के वातुलशुद्धाख्य तन्त्र के वर्गभेद नामक चतुर्थ पटल में प्रथमतः स्थिति, सृष्टि और संहार नाम के तीन वर्ग वर्णित हैं। इनमें से स्थिति वर्ग के तीन, सृष्टि वर्ग के आठ और संहार वर्ग के पाँच भेद बताये गये हैं। ऊपर वर्णित आठ वर्गों का यहाँ सृष्टि वर्ग में समावेश है।

वर्गों के समान वर्णों की संख्या के विषय में भी इन शास्त्रों में मतभेद देखने को मिलते हैं। संकेतपद्धति के अनुसार ४७ वर्ण वाली वैखरी वाणी की अभी चर्चा हुई है। शैव तन्त्रों में इनकी संख्या ४९ या ५० मानी गई है। शाक्त तन्त्रों में प्रधानतः ५१ वर्ण माने जाते हैं। संकेतपद्धति की ६७ वर्ण वाली मातृका की अभी चर्चा हो चुकी है। १६ स्वर और ३३ व्यंजनों के योग से वर्णों की संख्या ४९, उनमें क्षकार को जोड़ने पर ५० और ळकार का भी योग होने पर वर्णों की संख्या ५१ हो जाती है। ५० वर्ण वाली मातृका प्रायः सर्वत्र मान्य है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर का कहना है कि पचास वर्ण वाली मातृका ही भगवती का स्वरूप है। वातुलशुद्धाख्य तन्त्र में वर्गों के समान वर्णों के विषय में भी अपनी विशेष दृष्टि है। वहाँ उक्त ५१ वर्णों के अतिरिक्त बिन्दु और नाद का भी समावेश वर्णचक्र में किया गया है। वहाँ संलग्न रंगीन चित्र में इसको देखा जा सकता है।

मातृका और मालिनी यद्यपि पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु इनमें वर्णविन्यास का क्रम भिन्न प्रकार का है। मालिनी में वर्णों का क्रम नकार से प्रारम्भ कर फकार में पूरा होता है। इस क्रम को मालिनीविजय (३.३७-४१) में देखा जा सकता है। वह इस प्रकार है—न ऋ ॠ लृ लॄ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ इ अ व भ म ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष य श अं त ए ऐ ओ औ द फ। परात्रीशिका की विवृति में अभिनवगुप्त ने मालिनीन्यास के क्रम को विस्तार से समझाया है। यह क्रम काश्मीरागमों में विशेष रूप से मान्य है। प्रपंचसार में ५१ वर्ण वाले श्रीकण्ठन्यास का विधान है। यह मातृकान्यास के रूप में भी प्रसिद्ध है।

इस प्रसंग में भूतलिपि का विधान भी अवधेय है। यह कोई लिपि नहीं है। पाणिनि व्याकरण के १४ प्रत्याहार-सूत्रों में जिन ४२ वर्णों का उपदेश हुआ है,

ठीक वे ही वर्ण इस भूतलिपि में विन्यस्त है। कामकलाविलास (श्लो. २७) में श्रीचक्र में इनका विन्यास-क्रम इस प्रकार दिखाया गया है—अष्टकोण में श ष स और पवर्ग का, प्रथम दशार में तवर्ग और टवर्ग का, द्वितीय दशार में चवर्ग और कवर्ग का और चतुर्दशार में शेष चौदह वर्णों का। सब मिलाकर ४२ वर्ण होते हैं। यह क्रम शारदातिलक (७.१-५) के क्रम से मिलता है। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ३२५-३४५) में भी इस विषय को देखा जा सकता है।

शारदातिलक में ४२ अक्षर (वर्ण) और नौ वर्ग वाली भूतलिपि (मातृका) का क्रम इस प्रकार दिया गया है—

अ इ उ ऋ लृ	प्रथम वर्ग
ए ऐ ओ औ	द्वितीय वर्ग
ह य र ल व	तृतीय वर्ग
ङ क ख घ ग	चतुर्थ वर्ग
ञ च छ झ ज	पंचम वर्ग
ण ट ठ ढ ड	षष्ठ वर्ग
न त थ ध द	सप्तम वर्ग
म प फ भ ब	अष्टम वर्ग
श ष स	नवम वर्ग

कामकलाविलास (श्लो. २७) में सूक्ष्म और स्थूल के नाम से मध्यमा वाणी के दो भेद बताये गये हैं। नौ नाद वाली मध्यमा सूक्ष्म तथा भूतलिपिमयी स्थूल कहलाती है।

व्याकुलाक्षर

भास्करराय ने योगिनीहृदय के कुछ श्लोकों को व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखा हुआ माना है। तन्त्रराजतन्त्र तथा परमानन्दतन्त्र की टीका के पटलसमाप्ति के सूचक पद्यों में व्याकुलाक्षर पद्धति का अनुसरण किया गया है। भास्करराय ने सेतुबन्ध (७.८३) में इस पद्धति को समझाने के लिए निम्न पद्य को उद्धृत किया है—

दे व ता र थ गो मू क इति यो वेत्ति न क्रमम्।
स व्याकुलाक्षरे मूको देवतारथगोऽपि सन्॥

व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखे गए श्लोक के पादों में ऊपर बताये गए क्रम से

अक्षरों का क्रम बदल दिया जाता है। इस क्रम को समझने के लिए भी भास्करराय ने ही नाथनवरत्नमाला की अपनी स्वोपज्ञ टीका में यह दूसरा श्लोक दिया है—

कटपयवर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः।
नेत्रे शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते॥

इस वचन के अनुसार क से ञ तक और ट से न तक के अक्षरों से एक से दस तक, प से म तक के अक्षरों से एक से पाँच तक और य से क्ष तक के अक्षरों से एक से नौ तक की संख्या का ग्रहण होता है। इस पद्धति से ऊपर के पहले श्लोक के **दे** से ८, **व** से ४, **ता** से छः, **र** से २, **थ** से ७, **गो** से ३, **मू** से ५ और **क** से १ संख्या गृहीत होगी। इस क्रम से श्लोकों के पादों को व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखने पर पहले पाद का आठवाँ, फिर चौथा, छठा, दूसरा, सातवाँ, तीसरा, पांचवाँ और अन्त में पहला अक्षर लिखा जायगा। जैसे कि सेतुबन्ध में ही आठवें विश्राम के १९९ वें श्लोक के प्रथम पाद को त्स्यं सं था द्यं म मां त म—इस तरह से व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखा गया है। आठवें अक्षर को पहले **म,** चौथे अक्षर को दूसरे **द्यं,** छठे अक्षर को तीसरे **मां,** दूसरे अक्षर को चौथे **सं,** सातवें अक्षर को पाँचवें **त,** तीसरे अक्षर को छठे **था,** पाँचवें अक्षर को सातवें **म** और अन्त में पहले अक्षर को आठवें **त्स्यं** क्रम से लिखने पर व्याकुलाक्षर पाद का सही स्वरूप बन जाता है। अन्यत्र भी इसी तरह से व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखे गए वाक्यों का उद्धार कर उनका सही स्वरूप जाना जा सकता है।

वर्णों के संघट्ट (समूह) से बनी यह मातृका सात करोड़ मन्त्रों की जननी है। आगम-तन्त्रशास्त्र में मन्त्र के पर्याय के रूप में **मनु** शब्द भी प्रयुक्त है। पुरुष-देवता के वाचक मनु मन्त्र तथा स्त्री-देवता के वाचक **मनु**[६] विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। नित्याषोडशिकार्णव में मूल विद्या के नाम से त्रिपुरा विद्या का उद्धार किया गया है। दश महाविद्याओं में इसका प्रमुख स्थान है। सौभाग्यविद्या के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इसके हादिविद्या और कादिविद्या नामक दो भेद लोपामुद्रा विद्या और कामराज विद्या के नाम भी प्रसिद्ध हैं। ''मननात् त्रायत इति

६. जैन तन्त्रों में भी स्त्री-देवता के मन्त्र विद्या के नाम से ही सम्बोधित हैं। ''नादो बिन्दुः सकलौ'' (श्लो. ३१) तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक की व्याख्या में अघोरशिव इस अर्थ को मान्यता नहीं देते।

मन्त्रः" यह मन्त्र पद की व्युत्पत्ति सर्वमान्य है। नेत्रतन्त्र और उच्छुष्मतन्त्र के आधार पर यहाँ मन्त्रविषयक जानकारी दी जा रही है।

नेत्रतन्त्र (८.५९-६२) में बताया गया है कि भावहीन, शक्तिहीन, कीलित, वर्ण और मात्रा से च्युत, गुरु-परम्परा से अप्राप्त, भ्रष्ट, आम्नाय-परम्परा से रहित, आगमों के द्वारा परित्यक्त और विघ्नित मन्त्र सिद्धि प्रदान करने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। असिद्ध अथवा शत्रुस्थानीय, सभी [७]**अंशकों** से रहित, [८]**आदि** और अन्त में किसी अन्य वर्ण से रोधित मन्त्र भी फल देने में असमर्थ रहते हैं। षड्विध अंशकों का स्वरूप स्वच्छन्दतन्त्र (८.१-२५) में दिया गया है। मन्त्र की साधना में लगे साधक से द्वेष करने वाले व्यक्ति मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनको कीलित कर देते हैं। अतः साधक को चाहिये कि वह सुगोपित स्थान पर ही जप, होम आदि करे। नेत्रतन्त्र (६.३३-६६) में ही बताया गया है कि दुष्ट स्वभाव का हिंसक मन्त्रज्ञ मन्त्रों में कीलन, भेदन, मोहन, संत्रास, ताडन, जंभन, स्तंभन, रिपुत्वकरण, कृत्योत्पादन तथा हानिप्रदान नामक दस दोषों की उद्भावना कर सकते हैं, अतः साधक को चाहिये कि वह सभी प्रकार से सुगुप्त अपने घर पर ही सावधानी के साथ [९]याग, होम, जप आदि का अनुष्ठान करे।

इन दोषों के परिहार के लिए साधक को मन्त्रों की दीपन आदि विधियों को जानना चाहिए। नेत्रतन्त्र (१८.६-८) में ही बताया गया है कि दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेचन, विमलीकरण, इन्धननिवेशन, संतर्पण, गुप्तिभाव और आप्यायन—मन्त्रशास्त्र में बताई गई इन नौ विधियों को जो साधक पूरी तरह से जानता है, वही उत्तम प्रकार के मन्त्रों की साधना कर सकता है। शारदातिलक (२.११२) में यही विषय मन्त्रों के संस्कार के रूप में वर्णित है।

---

७. षड्विध अंशकों का परिचय स्वच्छन्दतन्त्र (८.१-२५) में दिया गया है। पद्मावतीकल्प के सकलीकरण प्रकरण (२.१३-१६) में मन्त्री के लिए अंशक ज्ञान की आवश्यकता को बताया गया है। मन्त्रों के सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु स्वरूपों की परीक्षा इसी पद्धति से की जाती है।

८. ऊपर की तीसरी टिप्पणी देखिए।

९. तन्त्रागमशास्त्र में बिम्बार्चन के लिए याग और अग्निसमाराधन के लिए होम शब्द प्रयुक्त है।

विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए ये मन्त्र ११ प्रकार से विनियुक्त होते हैं। इनका वर्णन भी नेत्रतन्त्र (१८. १०-१३) में मिलता है। तदनुसार संपुट, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत, युक्तिविदर्भ और विदर्भग्रथित—ये उनके नाम हैं। इस प्रकार से विनियुक्त मन्त्र सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाले है। इस तन्त्र के टीकाकार क्षेमराज ने यहाँ प्रदर्शित सभी पदों की विशद व्याख्या उच्छुष्मतन्त्र को उद्धृत करते हुए की है। शारदातिलक (२३.१३६) में शान्ति, वश्य, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण नामक षट्कर्मों की सिद्धि के लिए क्रमशः ग्रथन, विदर्भ, संपुट, रोधन, योग और पल्लव के विन्यास का क्रम बताया है। इनके लक्षणों को वहीं देखना चाहिए। इन क्रूर कर्मों के अतिरिक्त रक्षा, शान्ति आदि सौम्य षट्कर्मों का भी वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में, विशेषकर वैष्णव तन्त्रों में मिलता है।

नेत्रतन्त्र (१८. १२-१३) में मन्त्रों के सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि (शत्रु) नामक चार भेद भी वर्णित हैं। इस विषय की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही मन्त्र की आराधना करनी चाहिए। मन्त्रों के इन स्वरूपों को जानने का उपाय स्वच्छन्दतन्त्र (८. २४) में देखा जा सकता है। सिद्ध और सुसिद्ध मन्त्र की आराधना करने वाला साधक यदि मन्त्रों के उदय और अस्तभाव, को उनकी व्याप्ति आदि को जान लेता है, तो उसमें सर्वज्ञता का आविर्भाव हो उठता है। इसका भी वर्णन नेत्रतन्त्र (१८.१३-१४) में ही मिलता है। तन्त्रालोक (२९.८३) में जप के प्रसंग में मन्त्र की उदय, संगम और शान्ति नामक तीन अवस्थाओं की चर्चा की गई है। टीकाकार जयरथ ने उदय का अर्थ प्राणशक्ति का उदयस्थान जन्माधार, संगम का अर्थ नाना प्रकार की [१०]नाड़ियों से जुड़ा हुआ हृदय और शान्ति का प्राण के निरोध के लिए पूरी सावधानी से किया जाने वाला प्रयत्न किया है। उत्तरपट्क (५.१८) में आधार स्थान में उदय की, हृदय में लय की और ब्रह्मरन्ध्र में विश्राम की स्थिति बताई गई है।

---

१०. इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन प्रधान नाड़ियों के साथ गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी को मिलाकर दस नाड़ियाँ होती हैं। नाड़ियों की संख्या का विस्तार ७२ हजार और साढ़े तीन करोड़ तक पहुँचता है। आगम-तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र के ग्रन्थों में इसे देखा जा सकता है। वैखानस आगम में चौदह प्रधान नाड़ियाँ स्वीकृत हैं।

नेत्रतन्त्र (२१.७८-८०) में मन्त्रों की शिव, शक्ति और आत्मरूपता भी प्रतिपादित है। योगाभ्यास के सहारे मन्त्रों में आत्मत्व, शक्तित्व और शिवत्व का आधान करने वाले योगी में सर्वज्ञता अभिव्यक्त हो उठे, इसमें विवाद का अवसर ही कहाँ है। ऐसे साधक के सामने मन्त्र अपने पाँच रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। उत्तरषट्क (६.६) में बताया गया है कि स्पर्शन, अवलोकन, संभाषा, बिन्दुदर्शन और स्वयमावेशन—ये मन्त्रों के पाँच स्वरूप हैं। यहाँ **स्पर्शन** का अर्थ साधक के साथ मन्त्र का सम्बन्ध स्थापित होना है। हृदय में होने वाले कम्पन से इसकी अनुभूति होती है। मन्त्र जब साधक का **अवलोकन** करता है, तो साधक को अपने कण्ठ में धूनन (घूर्णि) की अनुभूति होती है। मन्त्र जब साधक से साक्षात् **संभाषण** करता है, तो उसमें स्तोभ का संचार होता है, जिसकी सहायता से साधक सबको अपने वश में कर सकता है। **बिन्दुदर्शन** की स्थिति में साधक के भ्रूमध्य में मन्त्र अपने स्वरूप को दिखाता है। अन्तिम **स्वयमावेशन** दशा में साधक स्वयं मन्त्रमय, अर्थात् देवस्वरूप बन जाता है। इस प्रकार आणव, शाक्त और शांभव नामक उपायों से संबद्ध ये मन्त्र अन्ततः स्वयं आत्मा, शक्ति एवं शिव-स्वरूप में साधक में आविष्ट हो जाते हैं।

अन्ततः मन्त्रों के अर्थ को जानना और उनमें चैतन्य का आधान करना शास्त्रों में परमावश्यक माना गया है। योगिनीहृदय के द्वितीय मन्त्रसंकेत पटल में त्रिपुरा विद्या के षड्विध अर्थों का विवरण मिलता है। मन्त्र की अधिष्ठात्री देवता का साक्षात्कार ही **मन्त्रचैतन्य** है। मन्त्रदेवता का साक्षात्कार कर लेने पर जप, ध्यान आदि में प्रवृत्त साधक ही सर्वज्ञता की प्राप्ति में समर्थ हो पाता है।

यहाँ हमने बहुत संक्षेप में मन्त्रों के स्वरूप को उजागर किया है। विभिन्न शास्त्रों में विविध रूपों में इनका वर्णन मिलता है। जितन्ता, आदित्यहृदय जैसे स्तोत्रों को भी मन्त्र की मान्यता मिली है और बौद्ध वाङ्मय की धारिणियों को भी। शास्त्रों में मन्त्रों के पिण्ड, कर्तरी, बीज, मन्त्र और माला नामक पाँच भेद बताये गये हैं। इनमें एक अक्षर वाले **पिण्ड,** दो अक्षर वाले **कर्तरी,** तीन से लेकर नौ वर्ण वाले **बीज** और दस से लेकर बीस तक वर्ण वाले **मन्त्र** के नाम से जाने जाते हैं। इससे ऊपर की संख्या वाले **मालामन्त्र** कहलाते हैं। धारिणियों का और स्तोत्रों का हम इसी अन्तिम विभाग में समावेश कर सकते है। शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के अन्त में शाबर मन्त्रों का भी उल्लेख मिलता है।

वर्गों और वर्णों के साथ मन्त्रों के विषय में भी वातुलशुद्धाख्यतन्त्र का अपना दृष्टिकोण है। प्रासाद मन्त्र का यहाँ विशेष महत्त्व है। प्रासाद, सौम्य और क्रूर मन्त्रों की उद्धार-पद्धति को यहाँ चक्रलेखन के आधार पर दिखाया गया है। इसी तरह पंचविध प्रणव-मन्त्रों की, पंचब्रह्म मन्त्रों की, उनकी अड़तीस कलाओं की, षडंग मन्त्रों के छत्तीस भेदों की और मन्त्रमय लिंग के उद्धार की पद्धति भी इस ग्रन्थ के विभिन्न पटलों में बताई गई है। मन्त्रों के प्रसंग में अक्षमाला, आसन, जप आदि का विशेष महत्त्व है। शास्त्रों में इनका बहुत विस्तार मिलता है। वाचिक, उपांशु और मानस नामक जप के तीन भेदों की चर्चा मनुस्मृति (२.८५) में भी है। वाचिक जप की अपेक्षा उपांशु जप शतगुण और मानस जप सहस्त्रगुण फल प्रदान करता है।

योगिनीहृदय (३. १७४-१८८) में जप करते समय छः शून्यों की, पाँच अवस्थाओं की और सात विषुवों की भावना की विधि को समझाया गया है। हृल्लेखा की बारह कलाओं में इनकी भावना की जाती है। स्वच्छन्दतन्त्र (४. २५४-२५६) में पदैकादशिका के प्रसंग में बारह कलाओं का परिगणन करते हुए इनमें छः प्रकार के शून्यों की (४. २८९-२९६) और सात प्रकार के विषुवों (४. ३१६-३२५) की भावना प्रदर्शित है। सिद्धान्तसारावलि के विभिन्न प्रसंगों में भी ये विषय वर्णित हैं। पहले यहाँ प्रासाद मन्त्र की नौ, बारह और सोलह कलाओं का वर्णन है (पृ. ८९-९५)। इसके उपरान्त षड्विध शून्यों का (पृ. ९५-९८), सात विषुवों का (पृ. २४४-२४७) और पाँच अवस्थाओं का (पृ. २७१-२७४) परिचय दिया गया है। यहाँ का पाँच अवस्थाओं का परिचय विशेष रूप से दर्शनीय है।

अचिन्त्यागम के प्रमाण से यहाँ इनका विवरण दिया जा रहा है—"इन पाँच अवस्थाओं का स्थान-क्रम इस प्रकार है—मुख में जाग्रदवस्था, हृदय में स्वप्नावस्था, नाभि में सुषुप्ति-अवस्था, बस्ति में तुरीयावस्था और लिंग में तुरीयातीतावस्था का निवास है। जाग्रदवस्था में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके शब्द आदि पाँच विषय; वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके वचन आदि पाँच व्यापार; प्राण-अपान आदि दशविध प्राण; मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक चार अन्तःकरण एवं क्षेत्रज्ञ नामक तत्त्व—ये सब मिलकर पैंतीस तत्त्व सक्रिय रहते हैं। स्वप्नावस्था में शब्द आदि पाँच, वचन आदि पाँच, प्राण आदि दस, चार अन्तिःकरण और क्षेत्रज्ञ—ये पचीस तत्त्व सक्रिय रहते हैं।

जाग्रदवस्था में विषयों का ज्ञान भी होता है, किन्तु स्वप्नावस्था में मात्र इनकी स्फूर्ति होती है। तीसरी सुषुप्ति-अवस्था में प्राण, चित्त और क्षेत्रज्ञ—ये तीन तत्त्व सक्रिय रहते हैं। तुरीयावस्था में प्राण और आत्मा ये दो ही तत्त्व सक्रिय रहते हैं और तुरीयातीतावस्था में मात्र आत्मा ही सक्रिय रहती है। ये पाँचों अवस्थाएँ मल से आवृत आत्मा की मानी गई हैं।''

इसके बाद निर्मल स्वात्मस्वरूप को शिव से परमसाम्यापत्ति की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे स्वात्मस्वरूप में समल जाग्रत् आदि अवस्थाओं की स्थिति नहीं रह सकती, अतः इनमें अमल जाग्रत् आदि अवस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं। इस स्थिति में [११]बीजाक्षर का उच्चारण जाग्रदवस्था, बिन्दु-परिग्रह स्वप्नावस्था, नाद-संयोग सुषुप्ति-अवस्था, शक्ति-समावेश तुरीयावस्था और परमशिव के तेज में, शान्त परम साम्यमय स्थिति में लीन हो जाना तुरीयातीतावस्था कहलाती है।''

इन जाग्रत् आदि पंचविध अवस्थाओं की भावना के समान ही शून्यषट्क और सप्तविषुव की भावना के साथ किये गये जप से भी इसी परमपद का साक्षात्कार होता है। निम्न श्लोक में **जप** के इसी स्वरूप को उजागर किया गया है—

संयम्येन्द्रियसंचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥



११. तन्त्रागमशास्त्र में प्रत्येक देवता के बीजाक्षर निर्दिष्ट हैं। जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ भी मन्त्र के प्रथम अक्षर में चन्द्रबिन्दु लगा कर इसका उद्धार कर लिया जाता है, जैसे गँ गणपतये नमः।

द्वितीय अध्याय

परमतत्त्व, जीव और जगत् का स्वरूप

परमतत्त्व

उपनिषदों में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मतत्त्व के समान आगम-तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में परमतत्त्व का अपना स्वरूप है। वैष्णवागमों के मुख्यत: वैखानस, पांचरात्र (सात्वत) और भागवत नामक तीन विभाग हैं। इनमें से वैखानस मत में नारायण के नाम से प्रसिद्ध परब्रह्म ही परमतत्त्व है। इस परमतत्त्व के अमूर्त और समूर्त, ये दो रूप हैं। इनमें से अमूर्त तत्त्व का स्वरूप उपनिषदों में वर्णित परब्रह्म के स्वरूप से भिन्न नहीं है। उसके समूर्त स्वरूप की आराधना प्रतिमा आदि में की जाती है। यज्ञ-याग आदि में वह्नि में दी गई आहुति को वैखानस आगम में अमूर्ताराधन तथा मन्दिर आदि में प्रतिमा की पूजा को समूर्ताराधन कहा गया है। परब्रह्म नारायण का स्वरूप अमूर्त हैं। वेद, उपनिषत् आदि में भी इसका वर्णन मिलता है। इसकी अपेक्षा भक्तियोग का प्रधान रूप से वर्णन करने वाले आगमों में भगवान् नारायण का वासुदेन नाम का षाड्गुण्य से अलंकृत स्वरूप समूर्त, सगुण, सकल कहलाता है।

विशुद्ध स्फटिकमणि जपाकुसुम आदि उपाधियों के सम्पर्क से जैसे नाना रूपों में दिखाई पड़ती है, उसी तरह निर्गुण भगवान् नारायण विष्णु साकार स्वरूप धारण कर मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों के रूप में प्रकट होते हैं। जैसे भगवान् वैश्वानर (वह्नि) इन्धन के सम्पर्क से प्रज्वलित हो उठते हैं, इसी तरह से ध्यान के निरन्तर अभ्यास से अरणि के मन्थन से पैदा हुई अग्नि के समान भक्त के हृदय में और उस पर अनुग्रह करने की दृष्टि से प्रतिमा आदि में भी प्रकट हो जाते हैं। यह सारा चराचरात्मक जगत् उसी का मूर्त स्वरूप है।

परब्रह्म नारायण विष्णु ही पुरुष, सत्य, अच्युत और अनिरुद्ध नाम की चार मूर्तियों का स्वरूप धारण करते हैं। इनमें पुरुष नाम का परमात्मा सभी छ: गुणों से अलंकृत है। सत्य में गुणों के तीन पाद, अच्युत में दो पाद और अनिरुद्ध में एक ही पाद रह जाता है। परमात्मा नारायण तो स्वयं अपने आपमें विराजमान रहते हैं। ब्राह्मण आदि चार वर्णों की और व्याहृति के चार विभागों की तरह ये चार मूर्तियाँ गुणों के आधार पर विभक्त हो जाती हैं, तो भी वास्तव में इनमें कोई

भेद नहीं है। जैसे एक ही वह्नि आहवनीय, अन्वाहार्य, गार्हपत्य और आवसथ्य नामक कुण्डों में स्थापित होकर चार स्वरूप धारण कर लेती है, उसी तरह से ये चार मूर्तियाँ यथाक्रम कान्ति, पुष्टि, सुख और इष्ट प्रयोजन रूप चार फलों को प्रदान करने से चतुर्धा विभक्त मान ली जाती हैं। विष्णु के अर्चावतार के रूप में भी इन मूर्तियों का परस्पर भेद मान लिया जाता है।

विष्णुपुराण में कालस्वरूप, शब्दमूर्ति को धारण करने वाले भगवान् विष्णु से सकल शास्त्रों की अवतारणा मानी गई है। वैखानस आगम में यह सारा वाङ्मय भगवान् नारायण का स्वरूप निर्दिष्ट है। इस तरह से इस मत में स्वीकृत भगवान् नारायण निर्गुण और सगुण, निष्कल और सकल, अमूर्त और समूर्त—इन दोनों ही रूपों में विराजमान है। उपनिषदों में वर्णित निर्गुण-निष्कल ब्रह्म ही भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए सगुण-सकल स्वरूप धारण कर लेते हैं। निर्गुण और निर्विकार वह ब्रह्म भक्तों के द्वारा मन्त्रों की सहायता से बुलाये जाने पर प्रतिमा, स्थण्डिल, कूर्च, कुम्भ आदि में उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं, जैसे सर्वत्र विद्यमान पवन व्यजन (पंखा) आदि के डुलाने पर अभिव्यक्त हो उठता है। प्रतिमा आदि में अभिव्यक्त हुआ वह साकार स्वरूप आगमशास्त्र की पद्धति से पूजित होने पर भक्तों के मनोरथों को पूरा करता है।

श्रीदेवी भगवान् की प्रधान विभूति है। श्वेताश्वतर श्रुति (४.१०) में प्रकृति को माया और परमेश्वर को मायी कहा गया है। तदनुसार श्रीदेवी मायास्थानीय और भगवान् नारायण उसके प्रेरक हैं। प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही तत्त्व अनादि माने गये हैं। इनमें प्रकृति तत्त्व के चेतन और अचेतन, ये दो भेद हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति को अचेतन ही माना गया है। प्रपंचसार (पृ. २१) में प्रकृति और पुरुष के साथ काल को भी अनादि (नित्य) माना गया है। प्रपंचसार को वैष्णव तन्त्र माना जाता है। संक्षेप में यही है वैखानसागम के परमतत्त्व का स्वरूप। इसीसे आगे जीव और जगत् की सृष्टि होती है।

पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता (८.५२-५३) ने परब्रह्म वासुदेव को सर्वत्र व्याप्त, परमज्योति, अमूर्त एवं निर्मल स्वरूप बताया है। यह सततोदित तेज (८.५६) ही भूतावास (८.१५१) और परब्रह्म नारायण (१७.४१९) पद से भी बोधित होता है। ''चिदानन्दघनः शान्तः'' (६.२१३) और ''चिच्छक्तिलक्षणं ब्रह्म त्वाह्लादानन्दलक्षणम्'' (२०.१३) यहाँ बताया गया है कि वह परब्रह्म चिदानन्द स्वरूप है। ''सद् ब्रह्म वासुदेवाख्यं'' (२.४) यहाँ उसे सदात्मक भी

माना गया है। इस तरह से उपनिषदों का सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परब्रह्म यहाँ भी स्वीकृत है। इस परब्रह्म की आराधना के लिए यहाँ द्वितीय परिच्छेद में— ''शान्तोदितविज्ञानप्राणाय'' (पृ. १७) इस मन्त्र का उद्धार करते समय भाष्यकार (पृ. १७) ने ब्रह्म की द्विविध दशा का वर्णन किया है। इसमें पहली सततोदिता (नित्योदिता) तथा दूसरी शान्तोदिता के नाम से जानी जाती है।

इसमें सततोदिता दशा से युक्त पर वासुदेव और शान्तोदिता से युक्त व्यूह वासुदेव कहलाता है। पर वासुदेव में छः गुण शान्त (प्रसुप्त) स्थिति में और शान्तोदित व्यूह वासुदेव में प्रबुद्ध रूप से रहते हैं। व्यूह वासुदेव में प्रबुद्ध रूप से विद्यमान छः गुणों में से क्रमशः प्रथम दो गुणों से संकर्षण की, द्वितीय दो गुणों से प्रद्युम्न की तथा अन्तिम दो गुणों से अनिरुद्ध की प्रवृत्ति होती है। अन्य चार गुण प्रत्येक में प्रसुप्त रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप पर वासुदेव से चतुर्व्यूह के नाम से चार स्वरूपों की अभिव्यक्ति होती है।

इस चातुरात्म्य (चतुर्व्यूह) की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नामक चार पदों में स्थिति मानी गई है। इनमें से तुर्य पद में स्थित परब्रह्म में चातुरात्म्य प्रसुप्त है, अतः यह **एकमूर्ति** पद से जाना जाता है और एक ही मन्त्र से इसकी आराधना की जाती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में चातुरात्म्य के प्रबुद्ध हो जाने से इसकी आराधना के लिए अलग-अलग चार मन्त्र प्रयुक्त होते हैं। इस चातुरात्म्य स्वरूप के चतुर्विध समाराधन की पद्धति सात्वता के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २२-२९) में देखनी चाहिए।

जीवों के सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के लिए इन वासुदेव आदि चार व्यूहों के प्रत्येक देवता तीन-तीन रूपों को धारण करते हैं। जैसे कि वासुदेव केशव, नारायण और माधव का; संकर्षण गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का; प्रद्युम्न त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर का तथा अनिरुद्ध हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर का स्वरूप धारण कर १२ **व्यूहान्तर** देवता कहलाते हैं। सात्वता (२५.३२२) में मूर्त्यन्तर के नाम से ये चर्चित हैं। पुराणों और आगमों में ये १२ व्यूहान्तर १२ मासों के अधिपति माने गये हैं।

ब्रह्म के **विभव** नामक तीसरे स्वरूप का वर्णन सात्वता के नवें परिच्छेद में किया गया है। विभवावतारों की संख्या ३९ है। भगवान् विशाखयूप स्वयं विश्व की सृष्टि करने की इच्छा से संभूति, स्थिति, संहार, भोग और कैवल्य लक्षण पाँच अर वाले इस संसार चक्र को अपनी बुद्धि से प्रेरित करते हैं। इन्हीं

से पद्मनाभ आदि अन्य अड़तीस विभवावतारों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार पांचरात्र मत में ब्रह्म के पर, व्यूह और विभव नामक तीन स्वरूप मान्य है। इनके साथ अन्तर्यामी और [१२]अर्चावतार का भी समावेश कर विष्वक्सेन-संहिता में पंचविध ब्रह्म प्रतिपादित है। रामानुज संप्रदाय के अनुयायी श्रीवैष्णव पंचविध परब्रह्म की ही उपासना करते हैं।

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि सात्वता आदि में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से वर्णित चतुर्व्यूह जयाख्या के शुद्ध सृष्टि-प्रकरण में वासुदेव, अच्युत, सत्य और पुरुष नाम से मिलते हैं (४. २-१४)। यहाँ (४.७) पुरुष को अनन्त भी कहा गया है। स्पष्ट है कि वैखानस मत में परब्रह्म-स्थानीय नारायण के पुरुष, सत्य और अच्युत का क्रम जयाख्या में अच्युत, सत्य और पुरुष के रूप में मिलता है।

भागवत मत में विशुद्ध, महाविभूतिसंपन्न, सभी कारणों के कारण, उस परब्रह्म-स्वरूप परमात्मा के लिए **भगवान्** शब्द प्रयुक्त होता है। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य नामक छः गुणों से सम्पन्न यह भगवान् बौद्ध तन्त्रों में भी मान्य है। पांचरात्रागमों में 'धर्म' के स्थान पर 'वीर्य' पाठ मिलता है। भगवान् विष्णु के समान शिव के भी सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्ति और अनन्तशक्ति नामक छः गुण मान्य हैं।

शैवागमों के मुख्यतः चार भेद माने गये हैं। वे हैं—सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। इनमें से पाशुपत मत में समस्त जागतिक पदार्थों की सृष्टि और संहार करने वाला, उन पर अनुग्रह करने वाला **कारण** तत्त्व ही प्रमुख है। यह एक ही है, किन्तु गुण और कर्म के भेद से इसके **पति** और **साद्य** नामक दो भेद होते हैं। इनमें से **पति** निरतिशय दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न है। इसीलिए निरतिशय ऐश्वर्य से भी यह सदा सम्पन्न रहता है। जो भविष्य में इन सब शक्तियों से सम्पन्न होता है, उसे **साद्य** पति कहा जाता है। सिद्धान्तशैव मत की पद्धति से पति पदार्थ की आगे समीक्षा होगी।

---

१२. विष्णुसहस्रनामभाष्य के कर्ता पराशर भट्ट विभवावतार के चार भेद कर अर्चावतार का इसीमें अन्तर्भाव करते हैं। श्रीमद्भागवत (९. ६. १३) के पुरंजनोपाख्यान में आवेशावतार चर्चित है। विष्वक्सेनसंहिता में बुद्धावतार को भी आवेशावतार ही माना गया है।

शैवागमों की एक शाखा कौल मत के नाम से प्रसिद्ध है। मत्स्येन्द्रनाथ इस मत के प्रवर्तक माने जाते हैं। यहाँ [१३]अनुत्तर को ही परमतत्त्व माना गया है। परा वाक् के नाम से प्रसिद्ध अनुत्तरा परा प्रतिभा उसकी शक्ति है। प्रकाश और विमर्श के समान इनकी भी समरसता और अद्वयता स्वीकृत है। इसीलिए यह **अनुत्तर** नामक परमतत्त्व छत्तीस तत्त्वों से ऊपर ३७वें तत्त्व के रूप में स्वीकृत है। यहाँ अनुत्तर शिव **अकुल** और **कुल** शब्दों से और उसके साथ समरसभाव में स्थित शक्ति **कौलिकी** कहलाती है। तन्त्रालोक (३.६७) और उसकी टीका के इन वचनों के आप देखिए—

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः॥
नौम्यनुत्तरनाथस्य रश्मिचक्रमहं सदा।
शिवशक्तीति विख्यातं परापरफलप्रदम्॥
यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम्॥

सिद्धान्तशैव मत में यह विषय अधिक विस्तार से प्रतिपादित है। मृगेन्द्रागम (विद्या. २-२) के अनुसार शैवागमों में पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थ विवृत हैं और ये आगम विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पादों में विभक्त हैं। भगवान् शिव ही यहाँ **पति** के नाम से प्रसिद्ध हैं। शिव को पति इसलिए कहा जाता है कि यह अचेतन माया, प्रकृति आदि के प्रवर्तक हैं। ये सभी प्रयोजनों के संपादक, कर्ता, व्यापक और सततोदित हैं। पति सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। मूर्ति (शरीर) के बिना भी यह कर्तृव्य शक्ति से सम्पन्न है, क्योंकि पति का शरीर अपनी शक्ति की किरणों से ही बनता है। ''अदेहस्यापि कर्तृत्वम्'' यह पौष्करागम का वचन है।

यह पति (शिव) नामक [१४]परमतत्त्व ईशान आदि पाँच मन्त्रों से सम्पन्न है और सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों का संपादक

---

१३. अद्वयवादी शैव तन्त्रों में अनुत्तर अकार को चतुष्कलभट्टारक कहा गया है। रौद्री, वामा, ज्येष्ठा और अम्बिका—ये चार उसकी कलाएँ हैं। अकार को शिव अथवा ब्रह्म का वाचक भी माना गया है। अकार के साथ हकार की भी अनच्क, अनिच्छा आदि विभिन्न नामों और रूपों में यहाँ चर्चा मिलती है।

१४. सिद्धान्तशैव दर्शन में शिव को अनादिमुक्त माना गया है। ''मुक्तात्मानोऽपि शिवाः'' (श्लो. ७) तत्त्वप्रकाश के इस श्लोक में मुक्तात्मा (शिव) से शिव के भेद को प्रदर्शित करने के लिए उसे अनादिमुक्त और पंचमन्त्रतनु कहा गया है।

है। द्वैतवादी सिद्धान्तशैव मत में यह पति जगत् का निमित्तकारण है, उपादान-कारण नहीं। अपनी चिच्छक्ति की त्रिविध प्रवृत्तियों के, अर्थात् उदासीनता, उद्योग और प्रवृत्ति के कारण यह पति (शिव) औपचारिक रूप से शक्त, उद्युक्त और प्रवृत्त नामक तीन भेद धारण कर लेता है। इसी तरह से लय, भोग और अधिकार नामक अवस्थाओं के भेद से भी पति की त्रिविधता बताई गई है। मतंगपारमेश्वर के विद्यापाद के तृतीय और चतुर्थ पटल में इन अवस्थाओं का स्वरूप विस्तार से वर्णित है। वास्तव में ये भेद भी औपचारिक ही हैं, पारमार्थिक नहीं। पति के निष्कल, सकल और शान्त स्वरूपों का भी वर्णन शास्त्रों में मिलता है। ये सब जीवोन्मुख शिव के औपचारिक भेद, अर्थात् विभिन्न स्थितियाँ हैं। अधिकारावस्था को धारण कर यह निष्कल शिव (पति) विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अपने पंचब्रह्म-स्वरूप की ३८ कलाओं से सम्पन्न हो अपनी शक्ति से मूर्ति का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इन कलाओं से सम्पन्न होने के कारण ही ये **सकल** कहलाते हैं। यह सकल शिव ही शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या (मन्त्र) के साथ मिलकर पाँच शुद्ध तत्त्वों का स्वरूप धारण करता है। तत्त्वप्रकाश-कार भोजदेव का कहना है कि एक ही तत्त्व पंचधा विभक्त हो जाता है। शुद्धविद्या-स्वरूप मन्त्रों की सहायता से ही साधक इनके स्वरूप को समझ पाता है।

ये **मन्त्र**[१५] निर्मल स्वभाव के हैं, अतः ये इनकी मनन आदि के रूप में आराधना करने वालों की ज्ञान और क्रिया शक्ति को प्रकाशित कर देते हैं। शैव शास्त्रों में इनको **मन्त्रतत्त्व** कहा गया है। प्रतिमा, चित्र आदि की तरह ही मन्त्रात्मक शब्द से अभिव्यक्त, शिव आदि शब्दों से अभिहित होने वाले ये मन्त्र भी आराधक को उनका अभीष्ट फल देने में समर्थ हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि जीवों पर अनुग्रह करने के लिए शिव मन्त्र का स्वरूप धारण कर लेते हैं। शिव की अनुग्राहिका शक्ति ही मन्त्र बन जाती है। सभी भावों की शिवस्वरूप में भावना करने से ये मन्त्र आराधक की रक्षा करते हैं, अतः मनन करने वालों

---

१५. ऋजुविमर्शिनी (पृ. ४६) और सुभगोदयवासना (श्लो. २५) में शिवानन्द ने मन्त्र और मुद्रा को क्रमशः ज्ञान और क्रिया शक्ति का प्रतिनिधि माना है। स्वच्छन्दतन्त्र (४. ३७५) इसकी पुष्टि करता है। नेत्रतन्त्र (२१.८०) में अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति में मन्त्र, मुद्रा और ध्यान को साधन माना गया है।

की रक्षा करने वाली यह शक्ति **मन्त्र** के नाम से प्रसिद्ध है। स्पष्ट है कि प्रतिमा, चित्र आदि की तरह ही भगवान् **मन्त्र, मातृका, यन्त्र** आदि में भी अवतरित होते हैं। अवतरण का अर्थ है अपनी उद्योगावस्था का परित्याग कर प्रवृत्तावस्था में उतरना। यही भगवान् शिव का सकल स्वरूप है।

मन्त्र

सात्वतसंहिता में बताया गया है कि जैसे बीज वृक्ष के रूप में और समुद्र बुद्बुद के रूप में परिणत होता है, उसी तरह नाना नाम-रूप विवर्जित यह विश्वेश शक्तिरूपी दर्पण में स्वतन्त्र इच्छा से प्रतिबिम्बित होकर **मन्त्रमय** शरीर को धारण करता है (३५. १४८-१५१)। जैसे सर्वगत पवन व्यजन से अभिव्यक्त होता है, उसी तरह भगवान् का आवाहन करने पर वे मन्त्र, बिम्ब, कुंभ, मण्डल और अग्नि आदि स्थानों में अभिव्यक्त हो उठते हैं (६. १६-१७)। इनमें मन्त्रमय शरीर ही मुख्य माना गया है। इसीलिए पंचविध समयों में मन्त्रभक्ति की भी गणना की गई है। इस विमल (पृ. १३४) प्रकाश मन्त्र को हृदय में उतार कर (१७.६१) नाभिचक्र, हृत्पद्म, कन्द-मूल, गलावट, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र में इसका ध्यान किया जाता है।

सात्वता में बताया गया है कि भगवान् का यह मन्त्रमय स्वरूप, संज्ञा, पद, पिण्ड और बीज के रूप में चार प्रकार का है। विभव देवताओं के प्रकरण में इनका स्वरूप बताया गया है। भाष्यकार ने इस विषय को विस्तार से समझाया है (पृ. १७७-१७८)।

अघोरशिवाचार्य का कहना है कि शिव की अनुग्राहिका शक्ति ही मन्त्र बन जाती है। अड़तीस कलाओं से सम्पन्न शिव के सकल शरीर का साक्षात्कार इस मन्त्रमयी शक्ति से ही हो पाता है।

नाद और बिन्दु

नादकारिका में नाद को महामाया का पर्याय माना गया है और रत्नत्रयकार बिन्दु को महामाया मानते हैं। यहाँ श्रीकण्ठ और रामकण्ठ दोनों ही परनाद, सुमंगला, मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु, अघोषा वाक्, ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्यातत्त्व, शब्दतत्त्व, अनाहत व्योम—इन सब शब्दों को

पर्यायवाची, अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक मानते हैं। ये सभी शब्द विभिन्न आगम-सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शैव-शाक्त तन्त्रों में बिन्दु को शिव का और नाद को शक्ति का प्रतिनिधि माना गया है। कुछ आचार्य शिव और शक्ति को तत्त्वातीत मानते हैं और उनके स्थान पर बिन्दु और नाद की तत्त्वों में गणना करते हैं। निष्कल शिव से अवबोध रूप ज्ञान प्रथमत: नाद के रूप में ही प्रसृत होता है, ऐसा पौष्कर, स्वच्छन्द आदि आगमों में वर्णित है। हंसनिर्णय में नौ नाद और स्वच्छन्दोद्योत में धर्मशिव के वचन के आधार पर अष्टविध नाद निर्दिष्ट हैं। तन्त्रालोक (५.९७) में ब्रह्मयामल के प्रमाण से दशविध राव का वर्णन किया गया है। वहाँ प्रयुक्त हुए नाद और राव शब्द मध्यमा वाणी के निदर्शक हैं। योगशास्त्र में निर्दिष्ट नादानुसन्धान प्रक्रिया इस मध्यमा वाणी पर ही आधृत है।

नाद और बिन्दु शब्द अपने-अपने मत के अनुसार वाणी की परा और पश्यन्ती अवस्थाओं के बोधक भी माने गये हैं। तन्त्रालोक एवं उसकी व्याख्या (१.७५-७७) में किरणशास्त्र के प्रमाण से शिव की शून्यता को सिद्ध कर उसमें बिन्दु, नाद और शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया गया है और शिवत्व की प्राप्ति के लिए शक्ति के साथ बिन्दु और नाद की भी उपयोगिता स्थापित की गई है। इस तरह से हम देखते हैं कि शास्त्रों में महामाया, कुण्डलिनी, नाद और बिन्दु—इन शब्दों का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। कहीं वे आपस में पर्याय के रूप में व्यवहृत हैं, अन्यत्र इनका परस्पर कार्यकारणभाव और दूसरे स्थानों में इनमें से प्रत्येक की स्वतन्त्र सर्वोपादानता प्रतिपादित है। मातृकाओं का विवरण देते समय, जप-विधि को और नादानुसन्धान की प्रक्रिया को समझाते समय अथवा षडध्व के अन्तर्वर्ती भुवनों का परिचय देते समय नाद और बिन्दु शब्दों की विविध व्याख्याएँ देखने को मिलती है। मातृका और मन्त्र से संबद्ध पक्ष को ही हम यहाँ मुख्य रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं।

बौद्ध ग्रन्थ वसन्ततिलक में मन्त्र को ही नाद बताया गया है। नाभि देश से उच्चरित हो रहा ऊर्ध्व गतिशील प्राण वायु सभी मन्त्रों का जनक है। नाभि देश में नदनशील यह प्राण वायु ही प्राणियों के सारे वर्ण-पद-वाक्य रूप वाणी के व्यापार का मूल कारण है। यह नादात्मक व्यापार ही मन्त्र का वास्तविक स्वरूप है। वर्णों अथवा पदों के संघातात्मक स्वरूप को यहाँ मन्त्र नहीं माना जाता। टीकाकार ने एक श्लोक को उद्धृत करते हुए बताया है कि हम मन्त्रों को

वर्णस्वरूप नहीं मानते, क्योंकि साधारण मनुष्य के द्वारा उच्चरित ये वर्ण एक तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकते। शाक्त ग्रन्थ महार्थमंजरी की परिमल टीका (पृ. १२२) में भी राजराजभट्टारक के वचन को उद्धृत कर बताया गया है कि मन्त्र वर्णात्मक नहीं है। वह पाँच मुँह और दस आँखों वाला भी नहीं है। वस्तुत: दृढ़ संकल्प शक्ति के साथ उल्लसित हुआ नाद ही मन्त्र है।

षडध्वप्रक्रिया में शब्दात्मक नाद से वर्ण, पद और मन्त्र नामक शब्दाध्वा की तथा अर्थात्मक बिन्दु से कला, तत्त्व और भुवन नामक अर्थाध्वा की सृष्टि मानी गई है। इसीलिए यह कहा जाता है कि गुरु की नादात्मक सृष्टि से शिष्य-परम्परा और बिन्दुस्वरूप सृष्टि से वंश-परम्परा प्रचलित होती है। रत्नत्रय, नादकारिका, परापंचाशिका, तन्त्रसार जैसे ग्रन्थों में इनका स्वरूप देखा जा सकता है।

अष्टप्रकरण में समाविष्ट रत्नत्रय एवं नादकारिका में परमतत्त्व की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। रत्नत्रय में **बिन्दु** की और नादकारिका में **नाद** की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। प्रथम ग्रन्थ में परबिन्दु से अपरबिन्दु, इससे नाद और नाद से वर्ण की अभिव्यक्ति मानी गई है और नादकारिका में परनाद से अपरनाद, इससे बिन्दु और बिन्दु से कला की अभिव्यक्ति बताई गई है। परबिन्दु और पदनाद को ही यहाँ परमतत्त्व की मान्यता मिली है। ये परा शक्ति और परमशिव के रूप में शब्द और अर्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके शब्दात्मक स्वरूप में वर्ण, पद, मन्त्र का तथा अर्थात्मक स्वरूप से कला, तत्त्व, भुवन का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार षडध्वात्मक जगत् की निष्पत्ति होती है। सृष्टि-संहार प्रकरण (पृ. ४७) में इस पर विचार किया जायगा। यहाँ विशेष रूप से यह स्मरण करा देना जरूरी है कि प्रथम पक्ष में अन्तत: अकार वर्ण की तथा द्वितीय पक्ष में शान्त्यतीता कला की स्थिति बची रहती है और ये क्रमशः परबिन्दु और परनाद में विलीन हो जाते हैं।

कौल मत के समान प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी अनुत्तर तत्त्व को ही परमतत्त्व माना गया है। ''अनुत्तरनाथ के रश्मिचक्र के प्रति मैं सदा नमन करता हूँ। अनाहत, हत और उत्तीर्ण स्थितियों में वर्तमान, चिति-शक्ति की विचित्र स्थितियों को दिखाने वाला, विभिन्न वर्णों के संघट्टन के लिए उद्युक्त यह **राव** संविद् देवी का ही स्वरूप है। इस वचन में अनुत्तरनाथ की स्तुति की गई है। भर्गशिखा के वचन में इस अनुत्तरनाथ को वेदान्त के परब्रह्म के समान सत्,

असत्, सदसत् और न सदसत्—इन चारों कोटियों से अतीत किसी अबूझ **(अनाख्य)** स्थिति में पहुँचा हुआ तत्त्व बताया है। परात्रीशिका की व्याख्या में इस अनुत्तर तत्त्व की विस्तार से अनेक प्रकार की व्याख्या की गई है। इस जगत् को छत्तीस तत्त्वों का समाहार-स्वरूप माना गया है। इसमें शिवतत्त्व भी अन्तर्भूत है। इन सबसे अतीत है—प्रत्यभिज्ञा दर्शन का परतत्त्व, जैसा कि परमार्थसार (श्लो. १०-११)। में बताया गया है—"प्रकाश-स्वरूप, परिपूर्ण, अपने आपमें विश्राम करने से महानन्द से ओतप्रोत, इच्छा, संवित् (ज्ञान) और करण (क्रिया) शक्ति से परिपूर्ण, अनन्त शक्तियों से सम्पन्न, सभी प्रकार के विकल्पों से रहित, शुद्ध, शान्त, लय और उदय से रहित परतत्त्व से ही यह सारा छत्तीस तत्त्वों वाला जगत् प्रकाशित होता है। यह परतत्त्व तत्त्वातीत, शून्य, अहम्, परशिव, निरंजन, भैरव जैसे नामों से विभिन्न शास्त्रों में प्रसिद्ध है"।

वीरशैव मत में परशिव को स्थल अथवा लिंग कहा जाता है। यह प्राकृत एवं पौरुष, अर्थात् स्थावर-जंगमात्मक जगत् सृष्टि से पहले जहाँ स्थित है और अन्त में पुनः जहाँ विलीन हो जाता है, वही **स्थल** है। इसी तरह समस्त प्राणियों के लय एवं गति का कारणभूत यह सकल-निष्कल शिव **लिंग** बन जाता है। भगवान् शिव के सकल और निष्कल, ये दोनों ही स्वरूप शास्त्रों में वर्णित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शिव अपनी शक्ति के संकोच के कारण निर्गुण और शक्ति के विकास से सगुण हो जाते हैं। ये शक्तियाँ शिव में अविनाभाव सम्बन्ध से सदा विद्यमान रहती हैं। शिव को यहाँ भी सत्, चित् और आनन्द स्वरूप माना गया है, अर्थात् वह अस्मि, प्रकाशे और नन्दामि—इन अनुभवों से युक्त है। इस प्रकार इस मत में परमशिव को सच्चिदानन्द रूप विमर्श शक्ति से विशिष्ट माना गया है। मायिदेव ने अनुभवसूत्र (२. २-९) में स्थल के विभिन्न अर्थों को समझाते हुए बताया है कि वेदान्त का सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही यहाँ शिवतत्त्व अथवा **स्थल** कहलाता है। यह निष्कल **स्थल**-तत्त्व ही लिंग और अंग के रूप में द्विधा विभक्त होकर निष्कल और सकल तत्त्व बन जाता है।

शाक्त मत के अनुयायी शक्ति की ही परमतत्त्व के रूप में उपासना करते हैं। यह संवित्स्वरूपा भगवती अपने भीतर विद्यमान जगत् को बाहर प्रकट कर देती है, यही शाक्त मत का सिद्धान्त है। वामकेश्वर दर्शन में त्रिपुरा नाम की परा संवित् ही परब्रह्मस्थानीय है। क्रमदर्शन में संवित्स्वरूपिणी काली को परमतत्त्व माना गया है। तन्त्रालोकविवेक (१.५) में अम्बिका, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा

नामक चार शक्तियों को परा का, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति को परापरा का तथा जया, विजया, अजिता और अपराजिता नामक चार गुह्य शक्तियाँ को अपराशक्ति का विस्तार बताया है। भट्ट प्रद्युम्न शक्तिपारम्यवादी हैं। सोमानन्द ने शिवदृष्टि के तृतीय आह्निक के प्रारम्भ में शक्तिपारम्य पक्ष का खण्ड करते समय भट्ट प्रद्युम्न के तत्त्वगर्भस्तोत्र को उद्धृत किया है। वहाँ शिव आदि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति भगवती अम्बा से मानी गई है। भट्ट प्रद्युम्न क्रमदर्शन के आचार्य हैं और इस मत के आगमों का उपदेश भगवती स्वयं भगवान् शिव को करती है, जबकि त्रिपुरा आदि तन्त्रों में यह बात नहीं है। इस दृष्टि से शाक्त तन्त्रों में प्रमुख स्थान क्रम सम्प्रदाय का ही मानना पड़ेगा।

शाक्तदर्शन का परब्रह्म संवित्स्वरूप है। यह संवित् ही अपने भीतर विद्यमान विश्व को बाहर प्रकाशित कर देती है। यही सिद्धान्त यहाँ मान्य है। वामकेश्वर दर्शन में त्रिपुरा नाम की महासंवित् ही परब्रह्मस्थानीय मानी जाती है, उसी तरह क्रमदर्शन में क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति और नाद नामक पाँच कृत्यों का निष्पादन करने वाली काली परमतत्त्व है, परब्रह्मस्थानीय है। इन शब्दों का अर्थ तन्त्रालोक (४.१७३-१७८) में देखा जा सकता है। ''संविदेव भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'' यह प्राभाकर सिद्धान्त संवित्सिद्धान्त का ही अनुवर्तन करता है। भासर्वज्ञ एवं वाचस्पति मिश्र जैसे नैयायिक संवित् शब्द का प्रयोग ज्ञान के पर्याय के रूप में करते हैं, तो भी विद्यारण्य की पंचदशी के अनुसार यह स्वयंप्रभा संवित् उदयभाव एवं अस्तभाव से रहित तत्त्व है। वैष्णवों और शैवों के परब्रह्म के सततोदित रूप से यह समरस है। उस ब्रह्म में संवित् की जो सत्ता है, उसके कारण ही लौकिक ज्ञान में भी संवित् शब्द का औपचारिक प्रयोग होने लग जाता है। इसी परासंवित् का ३६ तत्त्वों से अतीत, किंचिच्चलनशील, ३६ तत्त्वों के स्वरूप को धारण करने के लिए उद्यत, परिणमनशील धर्म **स्पन्द** तत्त्व कहलाता है। इस स्पन्द तत्त्व को ही हम क्रमदर्शन का आधार मान सकते हैं।

सभी शक्तियों से सम्पन्न, समस्त छत्तीस तत्त्वों के समूह को अपने भीतर समेट कर स्थित परमशिव भट्टारक नाम का प्रमाता ३७वें तत्त्व के रूप में विद्यमान है। इसके भी ऊपर विकल्पवृत्ति से रहित भगवान् का ३८वाँ विश्वोत्तीर्ण स्वरूप आगमों में मान्य है। महेश्वरानन्द ने अनेक युक्तियों के सहारे और अभिनवगुप्त की तन्त्रवटधानिका के प्रमाण से इस सिद्धान्त की स्थापना की है (पृ. ६६-६७)।

बौद्ध तान्त्रिक शून्य को ही परमतत्त्व मानते हैं। वेदान्त के ब्रह्म के समान यह शून्य भी चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है, अभावात्मक नहीं। इस परमतत्त्व की भावना में न तो कोई भावना करने वाला है, न कोई भावना का स्वरूप है और न भावनीय पदार्थ की ही कोई सत्ता है। यहाँ न कोई कर्ता है और न भोक्ता; न कोई ग्राहक (लेने वाला) है और न समर्पक (देने वाला); यहाँ न कुछ छोड़ने लायक है और न ही कुछ ग्रहण करने लायक। सब कुछ करते हुए भी तत्त्वयोगी की यह योग-भावना निरन्तर चलती रहती है। इसी स्थिति को अद्वयतत्त्व, बोधिचित्त, वज्र, वज्रसत्त्व, संबुद्ध, बोधि, प्रज्ञापारमिता, समता आदि नामों से जाना जाता है।

यह दिव्य तत्त्व सभी प्रकार की कामनाओं से वर्जित है, परम शुद्ध है। आदि, मध्य और अन्त से रहित है। अतः यह सदा सुविशुद्ध स्वभाव का है। इस परमतत्त्व में सभी जागतिक पदार्थों के स्वभाव पृथक् पृथक् रूप में विद्यमान हैं, किन्तु उनको नैरात्म्य योग की सहायता से ही जाना जा सकता है। सभी प्रपंचों से ऊपर परमतत्त्व का जो परम कल्याणमय स्वरूप है, वही सुविशुद्ध धर्मधातुस्वभाव **ज्ञान** कहलाता है। इस अद्वयतत्त्व के लिए **भूत-कोटि** शब्द का प्रयोग बौद्ध तन्त्रों में विशेष रूप से मिलता है। तथता, भूतकोटि और धर्मधातु—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। बोधिचित्त, प्रभास्वरपद, तथागतकाय जैसे शब्दों के माध्यम से भी बौद्ध तान्त्रिक इस परमतत्त्व का परिचय देते हैं। इस परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर योगी के लिए मण्डलरचना, मुद्राबन्ध, मन्त्रजप आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस विषय में कौल तान्त्रिकों की भी यही मान्यता है।

सर्वदर्शनसंग्रह के आर्हत (जैन) दर्शन प्रकरण में परमेश्वर को सर्वज्ञ, राग आदि दोषों से रहित, त्रैलोक्यपूजित, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बताने वाले देवता अर्हत् के रूप में प्रस्तुत किया है। आगे राग, द्वेष, हिंसा, शोक आदि १८ दोषों को गिनाते हुए कहा गया है कि जिनमें ये दोष नहीं हैं, वे ही भगवान् जिन सम्यक् तत्त्व का उपदेश करते हैं। **अर्हत्** अथवा **जिन** की उपासना करने वाला यह मत आर्हत अथवा जैन नाम से प्रसिद्ध है।

स्मार्त मत में पंचदेवोपासना (पंचायतन पूजा) का विधान है। ''पाँच उपास्य देवताओं के आयतन (मन्दिर) जहाँ एक साथ हों'' इस व्युत्पत्ति के

आधार पर उसको **पंचायतन** कहा जायगा, जहाँ शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश नामक पाँच देवताओं की मूर्तियाँ एक साथ पूजित होती हैं। इनमें अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार एक देवता प्रमुख रहती है और अन्य चार देवताओं के आयतन इसी मन्दिर की चारों विदिशाओं में स्थापित किये जाते हैं।

अब तक हमने विभिन्न सम्प्रदायों में मान्य परमतत्त्व परमात्मा के स्वरूप को प्रदर्शित किया है। अब इसी क्रम से जीवात्मा के स्वरूप को बताया जा रहा है।

जीव

वैखानस आगम में जीवात्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध एवं विर्विकार स्वभाव का है, अणु परिमाण का होते हुए भी सर्वगत है। विभिन्न देहों को धारण करता हुआ यह शुभ और अशुभ कर्म करता रहता है। यह कर्म ऐहिक और आमुष्मिक के भेद से दो प्रकार का है। भोजन-वस्त्र, आसन-शयन आदि का दान ऐहिक और अहिंसा, दान, धर्म, परोपकार, भगवदाराधन—ये सब आमुष्मिक फल को देने वाले हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही जीव नाना योनियों में जन्म लेता है और इनसे निवृत्त हो जाने पर **मोक्ष** पदवी को प्राप्त करता है। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज के भेद से जीव नाना योनियों से प्रविष्ट होकर अपने किये कर्मों के फल को भोगता है। भगवान् की आराधना से वह माया से मुक्त हो कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् इसके बाद उसको नया जन्म नहीं लेना पड़ता।

पांचरात्र आगम की जयाख्यसंहिता (३.१७) में जीव को चिदात्मक एवं अनादि वासनाओं से घिरा हुआ माना गया है। आत्मा का लक्षण बताते हुए वहाँ (४.५७-५८) कहा गया है कि यह नित्य, चिद्रूप और स्वसंवेद्य है। गुणों के कारण यह राग आदि दोषों से अभिभूत हो जाता है। **मन्त्र**शक्ति की सहायता से यह अपने स्वरूप को जान पाता है। लक्ष्मीतन्त्र में प्रमाता को ही चेतन या जीव बताया गया है। इसे **चिच्छक्ति** भी कहा गया है। यह शुद्ध, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप है। यहाँ इसे नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, अनणुत्व, आनन्त्य, समत्व जैसे विशेषणों से विशिष्ट कहा गया है। बद्ध, मुक्त और नित्य के भेद से जीवात्मा त्रिविध है। संसार से बंधा हुआ जीव **बद्ध** कहा गया है। प्रपत्ति आदि उपायों के द्वारा संसार से मुक्त होकर अनन्त काल के लिए ब्रह्मानुभव को प्राप्त करने वाला जीव **मुक्त** कहलाता है। शेष, गुरुड़, विष्वक्सेन आदि की गणना **नित्य** जीवों में की जाती है। जीवों का और उनके बद्ध, मुक्त नित्य नामक भेदों

का स्वरूप रामानुज संप्रदाय के यतीन्द्रमतदीपिका नामक ग्रन्थ के अष्टम अवतार में विस्तार से देखा जा सकता है।

भागवत मत में जीव भगवान् की तटस्थ शक्ति का विलास है। यह स्वयं तीनों गुण—सत्त्व, रज तम से नितान्त पृथक् है, तो भी [१६]**माया** से मोहित होकर वह अपने को त्रिगुणात्मक मान लेता है तथा उससे उत्पन्न होने वाले अनर्थ को अपना ही किया हुआ मान लेता है। जीव को जगत् से बांधने वाली वस्तु यह माया ही है। जीव और ईश्वर में यही अन्तर है कि जीव माया से मोहित होकर उसका दास बन जाता है, परन्तु ईश्वर माया का नियामक होता है। यह माया भगवान् की ही एक विलक्षण शक्ति है। ईश्वर के अनुग्रह से ही जीव माया के बन्धन से छुटकारा पा सकता है।

पाशुपत मत में जीव को **पशु** कहा गया है। विद्या पशु का गुण है। बोध और अबोध, विवेक और अविवेक दोनों इसके स्वभाव हैं। इसीको चित्त के नाम से जाना जाता है। सभी प्राणी इस चित्त की सहायता से ही बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत होकर अर्थ को जानने में समर्थ होते हैं। अबोधस्वभाव विद्या में पशुभाव के प्रयोजक धर्म और अधर्म का समावेश माना जाता है। इस पशुभाव से युक्त जीव को **पशु** कहा जाता है। यह दो प्रकार का है—सांजन और निरंजन। शरीर और इन्द्रियों से संयुक्त पशु **सांजन** तथा इनसे रहित **निरंजन** कहलाता है। निरंजन पशु के तीन भेद किये गये हैं—संहृत, कैवल्यगत और निष्ठायोगयुक्त। इनमें निष्ठावस्था निरंजन पशु की अन्तिम अवस्था है। अवधूत-सिद्ध के मत से यही सिद्धावस्था है। ऐसा सिद्ध योगी पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता। इस तरह से **सिद्ध** शब्द मुक्तावस्था और जीवन्मुक्तावस्था दोनों के लिए शास्त्रों में प्रयुक्त है। निरंजन जीव निष्ठावस्थापन्न योगी ही है। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (३. १. ३) मुण्डकोपनिषद् के इस वचन में इसी स्थिति की चर्चा है। सिद्धों और नाथों के द्वारा प्रतिपादित सहज स्थिति से हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

सिद्धान्तशैवागम में भी जीवात्मा को **पशु** ही कहा गया है। पराख्यसंहिता में इसे देह से भिन्न, अनश्वर, व्यापी, अनेक, समल अजड़ (चेतन), अपने

---

१६. सिद्धान्तशैव आदि मतों में माया को पाश माना गया है। विभिन्न शास्त्रों में ग्रन्थि, गहन आदि नामों से भी इसे जाना जाता है।

किये का फल भोगने वाला, कर्ता और अल्पज्ञ माना गया है। तत्त्वप्रकाश (श्लो. ५) में पशु को अणु, अर्थात् आणव मल से युक्त होने से संकुचित ज्ञान-क्रिया शक्ति स्वरूप बताया गया है। किरणागम (१. १५) में पशु को नित्य, अमूर्त, अज्ञ, निष्क्रिय, निर्गुण, अप्रभु (परतन्त्र), व्यापी, माया के उदर में रह कर संसार-चक्र में घूमते रहने वाला और भोग के उपाय की खोज में सदा लगा रहने वाला बताया है। मृगेन्द्रागम (वि. २. ५-६) में कहा गया है कि जीवात्मा में ज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप चैतन्य सदा विद्यमान रहता है और मुक्ति दशा में यह स्पष्ट रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है। जीव को **पशु** इसलिए कहा जाता है कि यह पाश्य अर्थात् पाश से बाँधने योग्य है।

सिद्धान्त शैवागम में विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से यह पशु त्रिविध है। इनमें **विज्ञानाकल** वह जीव है, जिसके कर्मों का क्षय विज्ञान, योग, संन्यास अथवा भोग से हो गया है और कर्मों का क्षय हो जाने से कला आदि माया के बन्धनों के अभाव में जिसमें केवल आणव मल बचा रहता है। द्वितीय **प्रलयाकल** में कला आदि माया के बन्धन नहीं रहने पाते, अत: यह मल और कर्म नामक दो बन्धनों से युक्त रहता है और तृतीय **सकल** जीव में मल, कर्म और माया नामक तीन मलों की स्थिति रहती है। यहाँ विज्ञानाकल के समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष, प्रलयाकल के पक्वाशय और अपक्वाशय तथा सकल के पक्वकलुष और अपक्वकलुष नामक दो-दो भेद वर्णित हैं। अपक्वकलुष बद्ध जीवों को परमेश्वर उनके कर्मफल के अनुसार सांसारिक भोग प्रदान करते हैं। शतरत्नसंग्रह (पृ. ७७-७८) में मूर्तिकेवली, योगकेवली, ज्ञानकेवली और शक्तिकेवली नाम के चतुर्विध पशुओं का स्वरूप प्रदर्शित है।

यह भोगोन्मुख जीवात्मा यहाँ अणु, पशु, पुद्गल, पुरुष आदि नामों से जाना जाता है। अणु परिमाण का होने से इसे अणु नहीं कहा जाता, किन्तु कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि शक्तियों के संकोच के कारण इसे यह नाम दिया गया है। अणु जीव पाशों से बद्ध होने से **पशु** कहलाता है। शिवोन्मुख जीव केवलावस्थ, सकलावस्थ और अमलावस्थ के भेद से तीन प्रकार का होता है। स्वायंभुवागम में इनका स्वरूप विवेचित है। अमलावस्थ जीव शरीर के छूटने के बाद मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। द्वैतदर्शन में शिवसदृश शिवता की प्राप्ति ही मुक्ति (मोक्ष) कही गई है। अद्वयदृष्टि के समान यहाँ पशु कभी पति नहीं बन सकता, यह पतिसदृश अवश्य हो जाता है।

अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में अज्ञान को ही **मल** माना गया है, जो संसाररूपी अंकुर का कारण है। इस अज्ञान के कारण आणव, कार्म और मायीय नामक त्रिविध मल की सृष्टि होती है। अद्वैतवादी शैवदर्शन के अनुसार मल द्रव्यात्मक न होकर भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति का विलासमात्र है। भ्रमरकीट जैसे अपने आप कोश में बंध जाता है, उसी तरह शिव भी स्वेच्छा से मात्र क्रीडा करने के लिए अज्ञान से आवृत हो जाता है। पौरुष और बौद्ध के भेद से यह **अज्ञान** दो प्रकार का माना गया है। **पौरुष** (पौंस्न) अज्ञान के कारण उसका ज्ञान सीमित हो जाता है। इसीको यहाँ आणव मल कहा गया है। इस आणव मल के कारण **बोध** (ज्ञान) का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है और इसके कारण अपनी स्वतन्त्रता का बोध भी नहीं रहने पाता। यह आणव मल ही कार्म और मायीय मल का भी कारण है, जिनके कारण इस संसार की कल्पना साकार होती है और निरन्तरता चलती रहती है।

भगवान् शिव अनादिबोध, सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यपरिपूर्णतृप्तता, नित्यता और स्वतन्त्रता नामक छः गुणों (शक्तियों) से सम्पन्न हैं। जब अपनी इच्छा से ये अपने बोध को संकुचित कर लेते हैं, तब आणव मल से आवृत हो जाते हैं। उस समय इनकी माया नाम की शक्ति प्रकट होती है और इनके अनादिबोध पर पर्दा पड़ जाता है। शिव की सर्वकर्तृता नामक शक्ति के संकोच से कला तत्त्व की, सर्वज्ञता के संकोच से विद्या तत्त्व की, नित्यपरिपूर्णतृप्तता के संकोच से राग तत्त्व की, नित्यता के संकोच से काल तत्त्व की और स्वतन्त्रता के संकोच से नित्यति तत्त्व की सृष्टि होती है। इस तरह अपनी छः शक्तियों को संकुचित कर शिव ही जीव बन जाता है। माया से नियति तत्त्व तक ये छः तत्त्व **षट्कंचुक** के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वातन्त्र्य शक्ति माया का इसमें समावेश न करने पर इनकी संख्या पाँच रह जाती है। द्वैतवादी शैवशास्त्र **पंचकंचुकवादी** है।

इस कंचुक (चोंगा) के धारण कर लेने पर शिव ही जीव (पुरुष = पशु) दिखाई देने लगता है। इस दशा में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। इसी को **पौरुष अज्ञान** कहते हैं। षट्कंचुक से आवृत पशु जब परिमित प्रमाता के रूप में अहन्ता से इदन्ता की यात्रा पर चल पड़ता है, तो वह **बौद्ध** (बुद्धिगत) **अज्ञान** से आवृत हो जाता है और इस पाशव संस्कार के हट जाने पर पुरुष पुनः अपने शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही **पौरुष ज्ञान** है। इसकी सहायता से अपनी परिपूर्णता का विकास हो जाने पर जब सर्वत्र अहन्तात्मक अध्यवसाय

उदित होता है, तब इदन्ता का लोप हो जाता है। इसी को **बौद्ध ज्ञान** कहते हैं। पौरुष अज्ञान की निवृत्ति यद्यपि दीक्षा के द्वारा हो जाती है, तो भी पौरुष ज्ञान की उत्पत्ति वर्तमान शरीर के परित्याग के पहले नहीं होने पाती, क्योंकि इस शरीर का आरंभक कार्म मल तब तक बना रहता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति तो शरीर के रहते हुए भी हो जाती है। शास्त्रों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से बुद्धिगत अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर व्यक्ति **जीवन्मुक्त** हो जाता है। दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतः मुक्ति के लिए बौद्ध ज्ञान ही प्रधान माना जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि दीक्षा के द्वारा पहले बुद्धिगत अज्ञान की निवृत्ति होती है और शास्त्रश्रवण आदि के द्वारा साधक जीवन्मुक्ति दशा तक पहुँच जाता है। इसके बाद पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होती है। तब साधक अपनी शिवस्वरूपता को पहिचान लेता है। इसीको प्रत्यभिज्ञा दृष्टि का उन्मीलन कहते हैं। तब वह इस शरीर के परित्याग के साथ ही अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, अपने जीवभाव को छोड़ कर शिवभाव को प्राप्त कर लेता है।

विरूपाक्षपंचाशिका की व्याख्या (पृ. १८) में अप्रबुद्ध, प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प और सुप्रबुद्ध नामक पंचविध प्रमाता निर्दिष्ट हैं। स्पन्दनिर्णय, स्पन्दप्रदीपिका, रामकण्ठवृत्ति जैसी स्पन्दकारिका की व्याख्याओं में भी इन भेदों को देखा जा सकता है। संबुद्ध नामक जीव का स्वरूप त्रिशिरोभैरव के प्रमाण से तन्त्रालोक (१. १३६) में भी बताया गया है। इनमें से सुप्रबुद्ध अथवा संबुद्ध जीव में ही प्रत्यभिज्ञा दृष्टि का उन्मीलन हो पाता है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में और सुभगोदयवासना (श्लो. ४३) में तो सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल के साथ मन्त्र (शुद्धविद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर), मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) और शक्ति-शिव का भी समावेश सात प्रमाताओं के रूप में किया गया है। ये सब चेतन वर्ग में परिगृहीत हैं।

वीरशैव मत में जीवात्मा को अंग कहा गया है। सच्चिदानन्द स्वरूप यह परशिव अपने विनोद के लिए स्वयं ही जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। सिद्धान्तशिखामणि (५.३४) के अनुसार प्रपंचगत सभी जीव उसी परमात्मा के अंश हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध इस सिद्धान्त में शिव और जीव, इन दोनों में न तो अत्यन्त भेद माना जाता है और न ही अत्यन्त अभेद; किन्तु यहाँ इनमें भेदाभेद मान्य है, अर्थात् बद्धावस्था में जीव का शिव

से भेद और मुक्तावस्था में अभेद मान्य है। जब शिव अपने विनोद के लिए स्वयं जीवात्मा बन जाता है, तब शिव में रहने वाली शक्ति भी अपने स्वरूप को संकुचित कर उस जीवात्मा में भक्ति के रूप में प्रवेश करती है। यह भक्ति ही क्रमशः जीवात्मा की संकुचित शक्ति को विकसित करती हुई इसको परशिव के साथ समरस कर देती है। यह जीवात्मा यहाँ अंग के नाम से जाना जाता है। जिस प्रकार जल छः रसों से संयुक्त होकर षड्रस स्वरूप बन जाता है, उसी तरह से भक्ति भी जीवात्मा के भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और ऐक्य नामक षड्विध आध्यात्मिक प्रगति की छः अवस्थाओं में, छः अंग-स्थलों में क्रमशः श्रद्धा, निष्ठा, अवधान, अनुभव, आनन्द और समरस भक्ति के रूप में प्रविष्ट हो जाती है। इस समरस भक्ति की सहायता से ऐक्य नामक जीव (अंग) अपने जीवभाव का परित्याग कर जल में जल तथा अग्नि में अग्नि के समान अपने मूल शिवस्वरूप के साथ समरस हो जाता है। इस प्रकार चिच्छक्ति-विशिष्ट शिव के तथा समरस-भक्ति से विशिष्ट जीव के परस्पर अद्वयभाव को मानने वाले इस सिद्धान्त को शक्तिविशिष्टाद्वैत नाम दिया गया है।

शाक्त तन्त्रों के साथ कुछ शैव तन्त्रों में भी आत्मा, विद्या और शिव अथवा नर, शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्व वर्णित हैं। इनमें आत्मा या नर (पुरुष) तत्त्व की व्याप्ति माया तत्त्व पर्यन्त मानी गई है। षट्कंचुकों के रूप में ये ऊपर वर्णित हैं। इनका स्वरूप शैव और शाक्त तन्त्रों में एक सरीखा है। परिमित प्रमाता (जीवात्मा) का परिपूर्ण स्वरूप इन्हीं से बनता है।

जैनदर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाण इसकी स्थिति को स्पष्ट करते हैं। यह चैतन्य-स्वरूप है, बोधस्वरूप, परिणामी है, कर्ता और साक्षात् भोक्ता है। स्वदेहपरिमाण है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है और पौद्गलिक धर्मों से युक्त है। ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। यह स्वयंप्रकाश है। कर्म का आत्मा और शरीर से अनादि सम्बन्ध है।

यह जीव संसारी और मुक्त के भेद से द्विविध है। संसारी जीव समनस्क और अमनस्क के भेद से दो प्रकार का है। समनस्क जीव शिक्षा आदि से परिपुष्ट होता है। अमनस्क जीव के त्रस और स्थावर नामक दो भेद होते हैं। त्रस को चल और स्थावर को अचल भी कहा जाता है। जैन शास्त्रों में चल (जंगम) और स्थावर के नाना भेद प्रदर्शित हैं। मुक्त जीव आवागमन से छुटकारा पा जाता

है। **केवली** नाम से यह जाना जाता है। शैवागमों के विज्ञानकेवल (विज्ञानाकल) से यह समरस है।

यहाँ जीव से पुद्गल की पृथक् सत्ता मानी गई है। ये स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से संयुक्त हैं, अतः इनकी तुलना न्याय-वैशेषिक दर्शन के परमाणुओं से की जा सकती है। जिसे सामान्यतया जड़ या भौतिक कहा जाता है, वही जैन दर्शन में पुद्गल शब्द से व्यवहृत होता है। पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध, ये दो प्रमुख भेद हैं। इस दर्शन की मान्यता है कि संसारी आत्मा **पुद्गल** के बिना नहीं रह सकता। जब तक जीव संसार में भ्रमण करता है, तब तक पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। पुद्गल से ही शरीर का निर्माण होता है, वाणी, मन और श्वास-प्रश्वास भी पुद्गल के ही कार्य हैं। इस रूप में सूक्ष्मशरीर अथवा आतिवाहिक देह से इसकी तुलना की जा सकती है। जीवात्मा के साथ पुद्गल का यह निकट का सम्बन्ध ही अन्य दर्शनों में इनकी पर्यायता, अभिन्नता का कारण बन गया है।

भोगोन्मुख जीवात्मा को सिद्धान्तशैव दर्शन में पुद्गल नाम दिया गया है। मलों से आवृत आत्मा को वहाँ पुद्गल कहा गया है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थ मालिनीमत के "विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान्" (१-१९) इस वचन में अष्टविध विज्ञानकेवलियों को पुद्गल नाम दिया गया है। ये ईश्वर तत्त्व के अनन्त आदि आठ स्वरूपों से अभिन्न हैं। सप्तविध प्रमाता में ईश्वर तत्त्व भी समाविष्ट है। मोक्षकारिका (श्लो. ७२) में भी अनन्त आदि विद्येश्वरों को पुद्गल कहा गया है। इसी तरह से बौद्ध तन्त्र गुह्यसमाज की प्रदीपोद्योतन टीका में रत्न, चन्दन आदि पंचविध पुद्गलों की चर्चा मिलती है। शास्त्रों में रत्न, चन्दन, पद्म, पुण्डरीक और उत्पल नामक पंचविध पुद्गलों का वर्णन मिलता है। इनमें से रत्नपुद्गल को ही शास्त्र का अधिकारी माना गया है। यहाँ (पृ. ८) टीकाकार ने बताया है कि रत्नपुद्गल अपने पूर्व जन्मों के संस्कार के कारण इस जन्म में अकृत्रिम (सहज) स्वरूप को अधिक सरलता से समझ सकता है।

जगत् (संसार)

वैखानस मत में शक्तिस्वरूपिणी श्री, अर्थात् प्रकृति की सहायता से भगवान् नारायण जगत् की सृष्टि करते हैं। मनुस्मृति, पुराण आदि में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार प्रथमतः वे सुवर्णमय अण्ड की उत्पत्ति करते हैं। इस मत

में प्रकृति, माया आदि सभी अण्डों के ऊपर वैष्णवाण्ड की स्थिति मानी गई है। इसकी महिमा को देवगण भी जान नहीं पाते। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-**मुक्त** स्वभाव वाले भक्तजन ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रथमत: सर्वव्यापी भगवान् नारायण वैष्णवाण्ड की सृष्टि कर वैकुण्डलोक में निवास करते हैं। पांचरात्र, शैव आदि आगमों की दृष्टि से इसे **शुद्ध सृष्टि** कह सकते हैं।

सांख्यदर्शन में वर्णित २५ तत्त्वों वाली सृष्टि यहाँ भी स्वीकृत है। इसको शुद्धेतरा, अर्थात् अशुद्ध सृष्टि कहा जा सकता है। विमानार्चनकल्प में इस सृष्टि का देह की उत्पत्ति की प्रक्रिया के साथ विस्तार से वर्णन है। उपनिषदों में, विभिन्न आगमों और पुराणों में वर्णित प्रक्रिया में इसमें कहीं साम्य, तो अन्यत्र वैषम्य भी देखने को मिलता है। मतंगपारमेश्वरागम (१६.१७-२२) में सत्त्व, रज और तम नामक त्रिगुणों की वृत्ति के रूप में विकसित भावों का वर्णन विशद रूप में देखने को मिलता है। इसी तरह से सत्त्वप्रधान ऊर्ध्व देवलोक, तम:प्रधान अध: पाताललोक और रज:प्रधान मध्य मानवलोक की सृष्टि की प्रक्रिया भी यहाँ सांख्यदर्शन की पद्धति से ही बताई गई है।

पांचरात्र आगम में भी वैखानस मत की पद्धति से ही सृष्टिप्रक्रिया के माध्यम से जगत् का स्वरूप प्रदर्शित है। अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत यह वर्णित है। सांख्यदर्शन की अपेक्षा इसमें कुछ विलक्षणता है। भगवान् क्रियाशक्ति और भूतिशक्ति की सहायता से काल और नियति तत्त्वों की सृष्टि करते हैं और आगे इन्हींकी सहायता से पुरुष और प्रकृति की। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से होने वाली सृष्टिप्रक्रिया सांख्यदर्शन से मिलती-जुलती है। सांख्य और योग दर्शन की प्रक्रिया का समस्त आगम-तन्त्र साहित्य पर अप्रतिहत प्रभाव है। यत्र-तत्र कुछ विलक्षणता भी देखने को मिलती है। इसकी चर्चा हम सिद्धान्तशैव-संमत तत्त्वमीमांसा करते समय अभी आगे (पृ. ४७) करेंगे। अभी इतना ही कहना पर्याप्त है कि आहंकारिक सृष्टि के प्रसंग में वैष्णवागम पूरी तरह सांख्यदर्शन की पदावली को ग्रहण करते हैं, वहीं कुछ शैवागम सात्त्विक अहंकार को तैजस तथा राजस अहंकार को वैकृत नाम देते हैं।

भागवत महापुराण में पुरुष, प्रकृति, महान्, अहंकार, एकादश, इन्द्रिय, पंच तन्मात्रा और पंच महाभूत के साथ तीन गुणों का भी परिगणन कर तत्त्वों की संख्या २८ मानी गई है। तीन गुणों का पृथक् परिगणन तत्त्वप्रकाश नामक शैव सिद्धान्त के ग्रन्थ में भी हुआ है, किन्तु वहाँ पृथक् तत्त्व के रूप में इसको

मान्यता नहीं दी गई। अहिर्बुध्न्यसंहिता और भागवत में भूत, धातु, प्रकृति और तत्त्व शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में किया गया है। चरकसंहिता में भी तत्त्व के अर्थ में धातु शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी वैष्णव आगम जगत् की सत्यता के प्रतिपादक हैं।

इस जगत् में जो कुछ भी अस्वतन्त्र, अर्थात् पराधीन है, पाशुपत मत में उसका कार्य-कोटि में समावेश किया गया है। इसके **विद्या, कला** और **पशु** नामक तीन भेद किये गये हैं। इनमें से **पशु** की चर्चा जीव प्रकरण में आ चुकी है। **विद्या** पशु का गुण है। यह दो प्रकार की है—बोधस्वभाव और अबोधस्वभाव। बोधस्वभाव विद्या के विवेकप्रवृत्ति और अविवेकप्रवृत्ति नामक दो भेद होते हैं। इसीका नाम **चित्त** भी है। सभी प्राणी इस चित्त की सहायता से ही बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत होकर सामान्य रूप से विवेचित अथवा अविवेचित अर्थ को जानने में समर्थ होते हैं। इनमें से विवेकप्रवृत्ति प्रमाणों की सहायता से सक्रिय हो पाती है। अबोधस्वभाव विद्या में पशुभाव के प्रयोजक धर्म और अधर्म का समावेश माना गया है, जो इस संसार की प्रवृत्ति के मुख्य कारण हैं।

कला स्वयं अचेतन है और यह चेतन तत्त्व के अधीन रह कर कार्य करती है। इसके भी दो भेद हैं—कार्याख्या और कारणाख्या। कार्याख्या कला के दस भेद हैं—पृथिवी आदि पाँच तत्त्व और रूप आदि पाँच गुण। कारणाख्या कला के तेरह भेद हैं—ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रियपंचक एवं अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प-नामक वृत्तियों के भेद से त्रिधा विभक्त बुद्धि, अहंकार और मन नामक त्रिविध अन्तःकरण। यहाँ [१७]बोध से बुद्धि की पृथक् सत्ता मानी गई है। सिद्धान्तशैव प्रकरण में बुद्धि से बोध की पृथक् सत्ता को स्पष्ट किया जायगा। कला के अन्तर्गत प्रायः सांख्य-संमत २३ तत्त्वों को ही मान्यता दी गई है।

---

१७. सद्योज्याति शिवाचार्य ने मोक्षकारिका (श्लो. १०६) में बोधाख्या अन्तःकरण वृत्ति से भिन्न बोध शक्ति का स्वरूप ''शिवार्कशक्तिदीधित्या'' (श्लो. १११) इत्यादि श्लोक में बताया है। ''बोधस्वरूपवाची संवित्'' (प्र. सा. १०.३) भुवनेश्वरीकल्प के इस वचन के प्रमाण से कुमारदेव ने तत्त्वप्रकाश की टीका में बोध के पर्याय के रूप में संवित् शब्द का प्रयोग किया है। स्पन्दप्रदीपिका (पृ. ८५) में संवित्, चित्, ज्ञान और बोध शब्दों को पर्यायवाची माना गया है। जैन दर्शन ने आत्मा को बोधस्वरूप माना है।

सिद्धान्तशैव दर्शन में पति, पशु और पाश नामक तीन तत्त्व मान्य हैं। इनमें पति और पशु का स्वरूप ऊपर विवेचित है। जगत् के अन्तर्गत हम पाश का समावेश कर सकते हैं। पाश के मल, तिरोधानशक्ति, महामाया (बिन्दु), माया और कर्म नामक पाँच भेद यहाँ मान्य हैं। इनमें से मल को संसार का कारण माना जाता है और इसमें माया और कर्म की प्रमुख भूमिका है। शुद्ध सृष्टि में महामाया की और अशुद्ध सृष्टि में माया की उपादानता मान्य है। तिरोधान (निग्रह) शक्ति के प्रवृत्त होने पर पशु अनादि काल से प्रवृत्त मल से आवृत हो अपने स्वरूप को संकुचित कर लेता है। आणव मल के नाम से यह प्रसिद्ध है। इसी तरह अनादि काल से प्रवृत्त कर्मप्रवाह में पतित माया-निगड़ित यह पशु तीन मलों से आवृत हो संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है, आवागमन के चक्कर में फँस जाता है। ईश्वर की अनुग्रह शक्ति की सहायता से ही वह इस संसार से छुटकारा पा सकता है। इस प्रकार पशु को सांसारिक बन्धनों में जकड़ने वाले इस तत्त्व को पाश नाम दिया जाय, यह उचित ही है।

''षडध्वात्मकं जगत्'' यह जगत् की परिभाषा दी गई है। वर्ण, पद और मन्त्र इस शब्दात्मक सृष्टि के साथ कला, तत्त्व और भुवन नामक अर्थात्मक सृष्टि के योग से इस षडध्वात्मक जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती है। इनमें तत्त्वों की संख्या ३६ मानी गई है। महामाया से पाँच शुद्ध तत्त्वों की और माया से सात शुद्धाशुद्ध तत्त्वों की सृष्टि की प्रक्रिया को ऊपर परमतत्त्व एवं जीव के स्वरूप के प्रसंग में क्रमशः बताया जा चुका है। प्रकृति से उत्पन्न २३ अशुद्ध तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम भी अभी ऊपर बताया जा चुका है, जो कि सांख्यदर्शन की प्रक्रिया का प्रायः अनुसरण करता है।

अशुद्ध तत्त्वों के विवेचन में सांख्यदर्शन की अपेक्षा शैवदृष्टि कुछ भिन्न प्रकार की है। जैसे कि सांख्यदर्शन में महत् से लेकर पंचतन्मात्रा पर्यन्त अठारह तत्त्वों से बने सूक्ष्मशरीर का लिंग-सर्ग में और धर्म आदि आठ भावों की सृष्टि का भाव या प्रत्यय सर्ग में समावेश माना गया है। ये धर्म आदि भाव सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृत के भेद से त्रिविध माने गये हैं। वैकृत भावों को नैमित्तिक भी कहा जाता है। यहाँ धर्म आदि को सात्त्विक तथा अधर्म आदि को तामस कहा गया है।

सिद्धान्तशैव दर्शन में कला से लेकर पृथिवी तत्त्वपर्यन्त तीस तत्त्वों की सूक्ष्मशरीर में स्थिति माना गई है। भोगकारिका (का. ५५) में अधर्म आदि तीन

को तमोमय, राग को रजोमय और धर्म आदि को सत्त्वमय माना गया है। सांसिद्धिक, वैनयिक और प्राकृत नामक त्रिविध भावों का वर्णन मृगेन्द्रागम के विद्यापाद (१०. २६-२८) में मिलता है। तदनुसार विशिष्ट धर्मों के संस्कार से निर्मल चित्त वाले **सिद्धों** का यह **सांसिद्धिक** गुण स्थूल देह के न रहने पर भी टिका रहता है। लोक-व्यवहार, गुरुजन अथवा शास्त्र की सहायता से **वैनयिक** गुण अर्जित किया जाता है और **प्राकृत** गुण की अभिव्यक्ति स्थूल देह का संयोग होने पर मन, वाणी अथवा शरीर की चेष्टा से होती है। **वैकृत** अथवा **नैमित्तिक** भावों को यहाँ **वैनयिक** नाम दिया गया है। भावसर्ग और प्रत्यय सर्ग का स्वरूप भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। तदनुसार बुद्धि में वासना के रूप में स्थित धर्म आदि आठ **भाव** कहलाते हैं। इन्हीं भावों का जब अधिक विकास होता है, तब ये स्थूल दशा को, भोग्य दशा कर प्राप्त कर संसारी जीवों के **प्रत्यय** (ज्ञान) में वृद्धि करते हैं (मृ. वि. ११.२)।

सत्त्व आदि गुण तीन हैं, किन्तु इनकी गणना एक ही तत्त्व (प्रकृति) के रूप में की जाती है। गुणत्रय से विषयों का निर्णय करने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है। इस बुद्धि में धर्म आदि गुण (भाव) स्थित हैं और सिद्धि आदि प्रत्ययों की भी स्थिति इसीमें मानी गई है। प्रत्यय सर्ग के ५० भेद सांख्यदर्शन को मान्य हैं, जबकि शैवागमों में इनके ३०० भेद बताये गये हैं। बुद्धि तत्त्व से केवल अभिमानात्मक अहंकार ही नहीं, उसकी जीवन, संरम्भ और गर्व नामक वृत्तियाँ भी जन्म लेती हैं। सात्त्विक, राजस और तामस गुणों को सांख्यकारिका में वैकारिक, तैजस और भूतादि नामों से जाना जाता है। इस पक्ष को तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमारदेव भी मानते हैं। विपरीत क्रम की भी उन्होंने चर्चा की है। तदनुसार इनका क्रम है—तैजस, वैकारिक और भूतादि। अघोरशिव सर्वत्र इसी क्रम को स्वीकार करते हैं। भोगकारिका (का. ३५) और योगिनीहृदय की टीका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह में भी यही क्रम मान्य है।

सांख्यदर्शन में तीनों अन्तःकरणों की सामान्य वृत्ति के रूप में प्राण आदि पाँच वायु वर्णित हैं। इसके विपरीत शैवदर्शन में अहंकार की संरम्भ नामक वृत्ति से शरीर-स्थित पाँच अथवा दस प्राण स्पन्दित होते हैं। आहंकारिक सृष्टि के प्रतिपादन में भी सिद्धान्तशास्त्र की अपनी विशेषता है। कुमारदेव के अनुसार तैजस (राजस) अहंकार से चल-स्वभाव मन की, वैकारिक (सात्त्विक) से प्रकाश एवं लघुस्वभाव दस इन्द्रियों की और भूतादि (तामस) से तमोमय

तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। अन्य आचार्य तैजस (सात्त्विक) अहंकार से स्वच्छ एवं लघु स्वभाव मन की उत्पत्ति मानते हैं। ये सात्त्विक के साथ वैकारिक (राजस) अहंकार से ज्ञानसाधन बुद्धीन्द्रियों की और तामस के साथ वैकारिक (राजस) अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्यदर्शन में सात्त्विक (वैकृत) अहंकार से ११ इन्द्रियों की और तामस से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति वर्णित है।

अघोरशिव के अनुसार तैजस (सात्त्विक) अहंकार से मन और बुद्धीन्द्रियों की, वैकारिक (राजस) से कर्मेन्द्रियों की और भूतादि (तामस) से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। वे यह भी कहते हैं कि बुद्धीन्द्रियों की सहायता से तैजस (सात्त्विक) अहंकार से ज्ञानशक्ति का और कर्मेन्द्रियों की सहायता से राजस (वैकारिक) अहंकार से क्रियाशक्ति का उन्मीलन होता है। उनका यह कथन भोगकारिका (श्लो. ३६, ४३, ४५) के अनुरूप है। तन्त्रालोक (९. २३४, २५३, २७२) में भी यही पक्ष स्वीकृत है। यहाँ अभिनवगुप्त ''तैजसादुभयम्'' (का. २५) इस सांख्यकारिका के पक्ष को भी प्रस्तुत करते हैं। मन की राजस अहंकार से उत्पत्ति के पक्ष को, मन की सात्त्विक अहंकार से तथा बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की राजस अहंकार से उत्पत्ति मानने वाले पक्षों को प्रस्तुत कर बाद में खेटपाल के मत को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि यहाँ सात्त्विक अहंकार से मन और बुद्धीन्द्रियों की तथा राजस अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गई है। आगे अभिनवगुप्त (९. २७६-२७७) पूर्वशास्त्र के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात् पुनः।
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद् विभाति नः॥

उनके इस मत की समीक्षा अपेक्षित है, क्योंकि मालिनीमत के श्लोक से खेटपाल के मत की पुष्टि होती है, जो इस प्रकार है—

तत् विधा, तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात्॥ (१.३१)

सांख्यकारिका की पद्धति से तैजस पद को राजस का पर्याय मान कर अभिनवगुप्त का यह कथन है। जयरथ यहाँ अभिनवगुप्त की इस व्याख्या का अनुसरण नहीं करते (९. २७४-२७५)। वस्तुतः मालिनीमत में यहाँ सिद्धान्त-शैवागमों का ही अनुसरण किया गया है, सांख्यकारिका का नहीं। तैजस,

वैकारिक और भूतादि शब्द शैवागमों में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस के अर्थ में प्रयुक्त हैं, जैसा कि अभी भोगकारिका और स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से बताया गया है। पांचभौतिक सृष्टि के प्रसंग में भी इसी तरह के मतभेद देखने को मिलते हैं।

ऊपर ३६ तत्त्वों का शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध नामक त्रिविध विभाग प्रदर्शित है। इनका परिचय शतरत्नसंग्रह (पृ. ५३-५४) में अचिन्त्यागम के प्रमाण से भिन्न पद्धति से दिया गया है। तदनुसार चौबीस संख्या के अशुद्ध तत्त्वों का भोग्य-काण्ड में, ऊपर के सात शुद्धाशुद्ध (मिश्र) तत्त्वों का भोक्तृ-काण्ड में और पाँच शुद्ध तत्त्वों का प्रेरक-काण्ड में परिगणन किया गया है। शुद्ध तत्त्वों की प्रेरकता इसलिए मानी गई है कि नाद आदि के रूप में ये वैखरी आदि वाणियों के प्रेरक हैं। साथ ही इनके शुद्ध भुवनों में रहने वाले अधिकारी वर्ग के प्राणी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं एवं दुःख आदि से रहित हैं। भोक्तृ-काण्ड के जीव शुद्ध और अशुद्ध उभयरूप हैं, अर्थात् इनमें स्वल्प मात्रा में सर्वज्ञता आदि के रहने से शुद्धता तथा स्वल्प मात्रा में ही दुःख आदि का संयोग रहने से अशुद्धता भी रहती है। भोग्य-काण्ड को अशुद्ध इसलिए माना जाता है कि यहाँ रहने वाले जीव अल्पज्ञ हैं एवं दुःखबहुल जीवन बिताते हैं।

सिद्धान्तशैवागम की यह पूरी प्रक्रिया अण्डचतुष्टयात्मक सृष्टि के रूप में प्रदर्शित है। काश्मीर शैवागम के ग्रन्थ परमार्थसार (श्लो. ४) में बताया गया है कि भगवान् शिव अपनी शक्तियों की सहायता से शक्ति, माया, प्रकृति और पृथ्वी नामक चार अण्डों की सृष्टि करते हैं। **पृथिव्यण्ड** में १०८ भुवनों की स्थिति मानी गई है। व्याख्याकार योगराज ने इस पद्य की विस्तृत व्याख्या की है। तदनुसार **शक्ति** शब्द से **महामाया** का ग्रहण किया जाता है। त्रिगुणात्मक **अव्यक्त** ही यहाँ **प्रकृति** के नाम से अभिहित है। शैवागमों में इसको सांख्यदर्शन के समान नित्य नहीं माना गया, किन्तु माया या कला से इसकी उत्पत्ति मानी गई है। इस **प्रकृत्यण्ड** में जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों की स्थिति मान्य है। इस प्रकृत्यण्ड के ऊपर नियतितत्त्व से लेकर मायातत्त्व पर्यन्त **मायाण्ड** की स्थिति है। यह माया वस्तुरूप है, नित्य है और इस जगत् का मूल कारण है। यह एक है, सारी सृष्टि में व्याप्त है, अनादि है, मृत्यु से अतीत है। यह अचेतन है। सर्ग, स्थिति और लय का आधार यही है और यही सारे जगत् की कारण है। यह माया पुरुष की ज्ञत्व एवं कर्तृत्व शक्ति के विकास के लिए

कला, काल, नियति आदि तत्त्वों को पैदा करती है। भोग के साधन इन तत्त्वों की सृष्टि के साथ यह उनका पोषण भी करती रहती है। शुद्ध और अशुद्ध के भेद से मल और कर्म द्विविध माने गये हैं। तदनुरूप माया के भी दो भेद हैं। अशुद्ध माया का स्वरूप अभी बताया गया है। इससे भिन्न शुद्ध माया **महामाया** कहलाती है। इस महामाया-रूप अण्ड में पाँच शुद्ध तत्त्वों की स्थिति मानी गई है। इसीको परमार्थसार में **शक्त्यण्ड** कहा गया है। विद्या, विद्येश्वर आदि के शरीर इसीसे निर्मित हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध तत्त्वों की उपादान महामाया, शुद्धाशुद्ध तत्त्वों की माया और अशुद्ध तत्त्वों की उपादान प्रकृति है। बिन्दु अथवा नाद स्वरूप महामाया का स्वरूप रत्नत्रय और नादकारिका में विशेष रूप से विवेचित है। काश्मीरागम के अन्य ग्रन्थों में भी अण्डचतुष्टय का स्वरूप देखा जा सकता है।

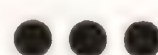
वैखानस आगम में प्रकृति, माया आदि सभी अण्डों के ऊपर बैष्णवाण्ड की स्थिति माना गई हैं। इसकी महिमा को देवगण भी जान नहीं पाते। नित्य-शुद्ध-वुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले भक्तजन ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। यहाँ आमोद, संमोद, प्रमोद और वैकुण्ठ नाम के चार लोक एक-दूसरे के ऊपर स्थित हैं। इनमें से श्रीदेवी और अपने समस्त आभूषणों एवं आयुधों से परिवृत भगवान् विष्णु आमोद लोक में, महाविष्णु प्रमोद, सदाविष्णु संमोद और सर्वव्यापी भगवान् नारायण वैकुण्ठ लोक में निवास करते हैं। पांचरात्र, शैव आदि आगमों की दृष्टि से इसे शुद्ध सृष्टि कहा जा सकता है।

वीरशैव मत और शाक्त मत की क्रम और त्रिपुरा शाखाओं में जगत् का स्वरूप सिद्धान्तशैव एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अनुरूप है। बौद्ध मत के ग्रन्थ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (४. २२-२३) में कहा गया है कि नाना प्रकार के संकल्पों के अन्धकार में डूबा, प्रबल झंझावात के समान अतिचंचल यह चित्त जब राग-द्वेष आदि दुरन्त मलों से घिर जाता है, तो भगवान् वज्री ने इसीको संसार कहा है। क्षणिकवादी बौद्ध मत में आर्य अष्टांगिक मार्ग की सन्तति को ही इस जगत् की प्रवृत्ति का कारण माना गया है।

सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. २७-३५) में आर्हत दर्शन का प्रतिपादन करते समय जीव और अजीव नामक दो तत्त्वों का; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नामक सात तत्त्वों का एवं इनके साथ

धर्म और अधर्म का भी समावेश कर नौ तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इनमें जीव का स्वरूप यथास्थान बता दिया गया है। अजीव, आस्रव और धर्माधर्म का समावेश हम जगत् में कर सकते हैं, क्योंकि इन्हींको वहाँ बन्ध का कारण माना गया है।

स्मार्त तन्त्रों में तन्त्रागमशास्त्र और पुराणों की दृष्टि से ही सृष्टि विवेचित है, अतः जगत् का स्वरूप तदनुरूप ही यहाँ मिलता है। तन्त्रागमशास्त्र जगत् की सत्यता के पक्षपाती हैं। प्रधानतया इसी मत को यहाँ मान्यता मिली है। क्षणिकवादी बौद्ध मत इसका अपवाद है। जैन मत में ''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'' यह सत् की परिभाषा दी गई है। तदनुरूप अनेकान्तवादी जैन दर्शन में स्याद्वाद की व्याख्या सप्तभंगी नय के अनुसार करनी पड़ेगी। शांकर अद्वैतवादी मत से प्रभावित स्मार्त तन्त्रों में जगत् को मिथ्या माना गया है। इसीके साथ हम इस प्रकरण को पूरा करते हैं।



तृतीय अध्याय

बन्ध और मोक्ष का स्वरूप

भारतीय शास्त्रों में ईश्वर की सृष्टि, स्थिति और संहार नामक तीन कृत्यों का ही प्रधानतः वर्णन मिलता है, किन्तु आगमों में निरोभाव और अनुग्रह को भी मिला कर ईश्वर को पंचकृत्यकारी माना गया है। तिरोभाव का विवेचन तन्त्रालोक के १४वें आह्निक में विस्तार से किया गया है। पाशों की सहायता से ईश्वर पशुओं में भोगों की अभिलाषा को जगाये रखता है। रौरवागम में इसको संरक्षण नाम दिया गया है। अपने संस्कारों के अनुरूप भोगों से प्राणियों को विमुक्त न करना ही संरक्षण है, क्योंकि भगवान् भोगासक्त प्राणियों को अपने अभीष्ट भोगों को भोगने में सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार ईश्वर की यह तिरोभाव शक्ति जीवों के **बन्ध** का कारण बनती है।

ईश्वर का अनुग्रह नामक पंचम कृत्य विमुक्ति और अनुध्यान भी कहलाता है। इस अनुग्रह शक्ति की सहायता से भगवान् पाशों का तिरोधान कर प्राणियों को पर और अपर मुक्ति प्रदान करते हैं। मतंगपारमेश्वर के योगपाद (५.६३-६७) में सप्तविध मोक्ष का स्वरूप देखा जा सकता है। ईश्वर के अनुग्रह व्यापार से इनकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार ईश्वर के सृष्टि-स्थिति-संहार के साथ चतुर्थ तिरोभाव कृत्य जीव के बन्ध का और पंचम अनुग्रह मोक्ष का कारण माना गया है। भगवान् काल की सहायता से प्रलय दशा में भी सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोधान व्यापार के साथ अनुग्रह व्यापार में भी लगे रहते हैं। यही है संक्षेप में बन्ध और मोक्ष की व्याख्या।

पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता (९.५७) में बताया गया है कि भगवान् विशाखयूप संभूति, स्थिति, संहार, भोग और कैवल्य लक्षण पाँच अर (तीली) वाले संसारचक्र को अपनी बुद्धि से प्रेरित करते रहते हैं। यहाँ भोग शब्द बन्ध का और कैवल्य मोक्ष का पर्याय है। सभी प्राणी एक साथ मुक्त नहीं होते, अतः कैवल्य के लिए भी भगवान् की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है। शाक्तदर्शन में सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त अनाख्या और भासा नामक पांच कृत्य वर्णित हैं। क्रमदर्शन के अनुसार सृष्टि-व्यापार में उद्योग, अवभासन, चर्बण, आत्मविलायन और निस्तरंगता नामक पाँच प्रथाओं का समष्टि स्वरूप संनिविष्ट है। प्रत्यभिज्ञासूत्र (सू. ११) में बताया गया है कि परिच्छिन्न प्रमाता में भी

आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन नामक पंचकृत्य अभिव्यक्त हो उठते हैं। यहाँ ईश्वर की अनुग्रह शक्ति भासा के रूप में प्रसिद्ध है। दशरूपक (१.१९-२२), साहित्यदर्पण (६. ७०-७३) और अग्निपुराण (३३८.२१) में नाट्यशास्त्र की आरंभ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँच अवस्थाएँ चर्चित हैं। इन सबकी व्याख्या भी हम बन्ध और मोक्ष के रूप में कर सकते हैं। वेदान्त के अध्यारोप और अपवाद शब्दों की व्याख्या भी बन्ध और मोक्ष के कारणों के रूप में की जा सकती है।

शैवागमों में पंचविध सर्ग का वर्णन मिलता है। उनके मत में भाव, तत्त्व, भुवन, भूत और प्रत्यय नामक पाँच पदार्थों की सृष्टि होती है। इनमें तत्त्वात्मक, भुवनात्मक और पंचभूतात्मक सृष्टि सर्वत्र वर्णित है। भावसर्ग और प्रत्ययसर्ग का सांख्यदर्शन के साथ शैवागमों में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। सिद्धान्त-सारावलि (१.२२) में तनु, देव, भाव और भुवन के रूप में भगवान् के सृष्टि-व्यापार का निरूपण मिलता है। यहाँ तनु शब्द से उस-उस भुवन के योग्य शरीर का, देव शब्द से इन्द्रियों का, भाव शब्द से धर्म आदि आठ भावों का और भुवन शब्द से कालाग्नि आदि भुवनों कर ग्रहण किया जाता है। इनका निर्माण करना ही भगवान् की **सृष्टि** नामक व्यापार है। महामाया की सहायता से भगवान् शिव शुद्ध सृष्टि का और माया की सहायता से अशुद्ध सृष्टि का निर्माण करते हैं। रौरवागम (१.१५) में सृष्टि आदि पंचकृत्य सृष्टि, संरक्षण, आदान, भव और अनुग्रह के नाम से वर्णित हैं। इनमें से प्रथम चार बन्ध के और अनुग्रह मोक्ष का कारण है।

सात्वतसंहिता (१९.४) में बन्ध [१८]भोग के नाम से व्याख्यात है। वहाँ कैवल्यफलदा, भोगकैवल्यदा और भोगदा के भेद से दीक्षा के तीन प्रकार बताये गये हैं। इनमें वैभवी दीक्षा ऐहिक सिद्धि और मोक्ष लक्ष्मी, दोनों को देने वाली है (१९.१६८)। व्यूह दीक्षा और ब्रह्म (पर) दीक्षा नित्य दीक्षा कहलाती है। इसका फल केवल मोक्ष-प्राप्ति है। इनमें भी चातुरात्म्य स्वरूप वाली व्यूह दीक्षा साधकों को पहले षाड्गुण्यमय भोगों को देती है और ब्रह्म (पर) दीक्षा साधक

१८. सात्वतसंहिता (१४. ६-७) में सांस्पर्शिक, हृदयंगम और औपचारिक नामक त्रिविध भोगों की चर्चा की गई है। भाष्य (पृ. २७३) में रक्तचन्दन आदि भोग सांस्पर्शिक, हृदयंगम आभ्यवहारिक और छत्र, चामर आदि औपचारिक भोग माने गए हैं। लक्ष्मीतन्त्र (३६. ८७-९२) भी देखिए।

को प्रकृति में विलीन कर देती है (१९. १७८-१८०)। पर वासुदेव को ही यहाँ प्रकृति कहा गया है। यहाँ (१.२७) व्यूह-संज्ञक सद्ब्रह्म निःश्रेयस फल को और वैभव स्वरूप भुक्ति और मुक्ति को देने वाला माना गया है। इस तरह से पर दीक्षा कैवल्यदा और व्यूह दीक्षा एवं वैभव दीक्षा भोगकैवल्यदा मानी गई है। इनमें व्यूह दीक्षा भोगों के अनन्तर मोक्ष को भी देती है और वैभव दीक्षा साधक की इच्छा के अनुसार उसको भोग या कैवल्य प्रदान करती है। यहाँ भोग की प्रधानता होने पर मोक्ष गौण और मोक्ष की प्रधानता होने पर भोग गौण हो जायगा। भुक्ति, सिद्धि, भूति, विभूति, काम—ये सब भोग के पर्यायवाची शब्द हैं और मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, निःश्रेयस, दुःखान्त आदि मोक्ष के।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और पाशुपत दर्शन में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक त्रिविध दुःखों की निवृत्ति को ही मुक्ति माना गया है। पाशुपत मत में इसे दुःखान्त नाम दिया गया है। केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही इसकी प्राप्ति होती है। यह दुःखान्त अनात्मक और सात्मक के भेद से दो प्रकार का है। सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त समुच्छेद अनात्मक दुःखान्त है। न्याय-वैशेषिक मत से निःश्रेयस का यही स्वरूप है। दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति लक्षण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति सात्मक दुःखान्त है। योगदर्शन के कैवल्य में भी चितिशक्ति का उदय माना गया है। लकुलीश पाशुपत मत में दुःख की निवृत्ति के साथ परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है।

लकुलीश पाशुपत मत की अन्य भी कुछ विशेषताएँ हैं। अन्यत्र अनित्य पदार्थों का ही कार्यकोटि में समावेश किया गया है, यहाँ नित्य पशु की भी इसी में गणना की गई है। अन्यत्र कारण की सापेक्षता मानी गई है, यहाँ सर्वनिरपेक्ष भगवान् का ही कारण कोटि में समावेश माना गया है। अन्यत्र अस्वतन्त्र प्रधान, परमाणु आदि का कारणकोटि में समावेश है, किन्तु यहाँ स्वतन्त्र भगवान् की कारणता स्वीकृत है। अन्यत्र योग का फल कैवल्य-लाभ मात्र है, यहाँ दुःखान्त के साथ पारमैश्वर्य की प्राप्ति भी मानी गई है। अन्यत्र पुनरावृत्तिफलक स्वर्ग आदि ही विधि का प्रयोजन है, किन्तु पाशुपत मत की विधि के अनुष्ठान से साधक पुनरावृत्ति से मुक्त होकर पति के साथ सामीप्य आदि का लाभ करता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा इस मत की यह भी विशेषता है कि सांख्य-दर्शन के समान यहाँ सत्कार्यवाद स्वीकृत है, असत्कार्यवाद नहीं।

सिद्धान्तशैव दर्शन के महान् आचार्य सद्योज्योति शिवाचार्य ने भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका में भोग (बन्ध) और मोक्ष का विस्तार से वर्णन किया है। भोगकारिका के मंगल-पद्य में भोग और मोक्ष के स्वरूप को सूचित करते हुए बताया गया है कि मल, कर्म और माया नामक तीन बन्धनों (पाशों) से संयुक्त, सकल नामक चिदात्माओं के सूक्ष्म देह के आरंभक, कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों से निर्मित, उन-उन भुवनों के अनुरूप शरीरों का मायीय अवयवों से सम्बन्ध बनने पर भोगों की निष्पत्ति होती है और इन भोगों से विरक्त व्यक्ति को शिव के प्रसाद से मोक्ष की प्राप्ति होती है। शतरत्नसंग्रह-धृत वचन के अनुसार अज्ञ पुरुष की सुख-दुःख की अनुभूति ही **भोग** है। चेतन पुरुष अपने किये कर्मों के अनुसार इनको प्राप्त करता है। तदनुसार भोग, वेदना, संवित्ति और अनुभव—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। यह भोग सुखवेदना, दुःखवेदना और मोहवेदना के रूप में तीन प्रकार का है। नाना ग्रन्थों में भोग के इस स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इन सबका अभिप्राय यह है कि सुख, दुःख, मोह का अनुभव करने वाली बुद्धि की वृत्ति के द्वारा आत्मचैतन्य का जो अनुरंजन होता है, वही **भोग** कहलाता है। भोग की लालसा ही आत्मा के बन्धन का कारण बनती है। वह आतिवाहिक देह, अर्थात् सूक्ष्मशरीर के माध्यम से नाना योनियों में तब तक जन्म लेता रहता है, जब तक उसके संचित कर्मों का नाश नहीं हो जाता। कर्म-साम्य की अवस्था में ही यह सम्भव हो पाता है।

दीक्षारूपी अग्नि से जिस जीवात्मा का मल दग्ध हो जाता है, उसका परिपाक हो जाता है, शिव की शक्ति के सम्पर्क से, शक्तिपात से उसकी अपनी दृक्क्रिया शक्ति प्रकट हो जाती है, तब वह कभी निवृत्त नहीं होती, सदा बनी रहती है। जैसे पारद रस के सम्पर्क से ताम्र के सुवर्ण बन जाने पर वह पुनः ताम्र नहीं बनता, उसी तरह से जीवात्मा भी शिवभाव को प्राप्त कर लेने के बाद पुनः जीवभाव में निपतित नहीं होता। यही स्थिति **मोक्ष** के नाम से जानी जाती है। यहाँ आकर जीवात्मा में शिव के सर्वज्ञता आदि षड्विध गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है। स्वायंभुवागम में बताया गया है कि दीक्षा के सहारे क्रमशः केवलता (मोक्ष) को प्राप्त जीवात्मा अनादिकालीन मल के निवृत्त हो जाने के बाद भवान्तर को प्राप्त नहीं करता। इससे स्पष्ट है कि पुनः जन्मान्तर का न होना ही **मोक्ष** है।

जीव प्रकरण में अमलावस्थ जीव की चर्चा आ चुकी है। शरीर के पतन के बाद यह मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त करता है। द्वैतवादी शैवदर्शन में शिवभाव का सादृश्य प्राप्त कर लेना ही **मुक्ति** कहलाती है। अद्वैतदर्शन के अनुसार शिवैक्यभाव यहाँ मान्य नहीं है। सिद्धान्तशैवों के अनुसार मोक्षावस्था में सर्वज्ञता आदि छः गुणों की अभिव्यक्ति के कारण परमेश्वर से समानता प्राप्त होती है। यहाँ शिव-गुणों की समुत्पत्ति, संक्रान्ति या आवेश के कारण शिवसमता मान्य नहीं है।

शिव की समानता कैसे प्राप्त होती है ? इस विषय में शैवशास्त्रों में चार मत निर्दिष्ट हैं—उत्पत्ति, संक्रान्ति, समावेश और अभिव्यक्ति। कालामुख संप्रदाय के अनुसार शिव की समानता का अर्थ है, जीव में सर्वज्ञत्व आदि गुणों की **उत्पत्ति**। इनके मत से मुक्त जीव में मोक्षावस्था में पतिसदृश गुणों की उत्पत्ति होती है। पाशुपत मत में **संक्रान्ति** पक्ष मान्य है। इनका कहना है कि मोक्षावस्था में मुक्त आत्मा में पति के गुण उसी प्रकार संक्रान्त हो जाते हैं, जैसे कस्तूरी की सुगन्धि वस्त्र में आ जाती है। कापालिक **समावेश** पक्ष को मानते हैं। इनके मत से जीव के शरीर में जैसे भूत, प्रेत आदि आविष्ट हो जाते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में शिव के गुणों का समावेश हो जाता है। **अभिव्यक्ति** पक्ष को स्वीकार करने वाले शैवों का कहना है कि जीव में शिव के गुण तो विद्यमान हैं ही। वे संसार दशा में मल से अवरुद्ध होने के कारण प्रकाशित नहीं होने पाते। मोक्ष-दशा में मल के हट जाने से ये निजी गुण प्रकट हो जाते हैं, उनका अपना वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त हो उठता है। ऊपर इसी मत को मान्यता दी गई है। "प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तव्यो मलाः" यह बौद्ध वचन भी इसी स्थिति को मान्यता दे रहा है।

सिद्धान्तशैव मत के अनुसार अभी भोग और मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। कुल, कौल, क्रम, त्रिक आदि मतों के अनुसार अद्वैतवादी दार्शनिक भोग और मोक्ष की भिन्न प्रकार की व्याख्या करते हैं। विषयपंचिका में मुक्ति के स्वरूप का वर्णन करते समय बताया गया है कि मधुर सरस वीणा, वेणु, गीत, वाद्य आदि की ध्वनि को सुनने से एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। इनकी ध्वनियों के अनुरणन के साथ बाह्य अनुभवों पर विराम लग जाने से विशुद्ध बोध का उदय होता है, तो सारे संसार का वैभव उसके सामने तुच्छ हो जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति के इस वचन को भी आप देखिए—

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥

यहाँ स्पष्ट ही संगीत को मोक्षप्राप्ति का साधन माना गया है। विज्ञानभैरव में भी इसी तरह की अनेक धारणाएँ वर्णित हैं। प्रबोधपंचदशिका में भी भोग और मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि उस स्वतन्त्र भोक्त्री शक्ति का भोग्य पदार्थ के साथ जब एकीकार हो जाता है, तो उसी स्थिति को **भोग** और **मोक्ष** दोनों शब्दों से कहा जा सकता है।

सर्वज्ञभैरव के अनुसार मोक्ष के लिए किसी अन्य स्थान में जाना नहीं पड़ता, अज्ञान रूपी ग्रन्थि का भेदन ही तो मोक्ष है। परमार्थसार का भी कहना है कि मोक्ष नाम का कोई धाम (दिव्य देश) नहीं है और न इसके लिए कहीं अन्यत्र जाना ही पड़ता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि का भेद हो जाने पर अपनी शक्ति का विकास ही तो मोक्ष है। धातुसमीक्षा का कथन है कि अविद्या से आवृत जीव बद्ध कहलाता है और अविद्या के क्षय के साथ वह मुक्त हो जाता है। स्वस्वभावसंबोधन के अनुसार बन्धन, बन्धनकर्ता और बध्य—इन तीनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपने द्वारा कल्पित विकल्पों से ही इस संसार के प्राणी रात-दिन बन्धन से जकड़े रहते हैं। आत्मसप्तति के अनुसार वास्तव में जब बन्धन की कोई स्थिति नहीं है, तो उसके अभाव में उससे मुक्त होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। अद्वयवादी आगमों में इस तरह के अनेक वचन देखे जा सकते हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। पौरुष और बौद्ध अज्ञान से आवृत पशु अपने को बद्ध मानने लगता है और पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव होने पर वह अपने को सांसारिक बन्धनों से मुक्त मान लेता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि से आबद्ध पशु अपने को बन्धन में पड़ा हुआ समझ लेता है और ग्रन्थि के खुल जाने पर वह अपने को मुक्त मानने लगता है। इस प्रकार इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष प्रतीतिमात्रसार हैं। इस प्रकार शुद्ध संवित्स्वरूप भगवान् शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे अपनी शक्तियों को संकुचित कर जीव और जगत् के रूप में भासित होने लगते हैं और अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। वास्तव में बन्ध और मोक्ष भगवान् की लीला का विलासमात्र हैं। उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, शिवस्वरूप के अतिरिक्त जीव और जगत् की भी वस्तुतः कोई सत्ता

नहीं है। भगवान् शिव ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे जीव और जगत् के रूप में भी भासित होने लगते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी जीवात्मा की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे हम किसी वस्तु को रखकर भूल जाते हैं और उसके मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति जीव और शिव की भी है। अन्तर इतना ही है कि शिव स्वेच्छा से अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे मात्र लीला करने के लिए अपने स्वरूप को भुलाने का नाटक रचते हैं। इस प्रकार यहाँ यह सारा स्थावरजंगमात्मक जगत् शिव के विलास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसीलिए यह अद्वयवादी दर्शन है।

अद्वयवादी बौद्ध तन्त्र के ग्रन्थ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (४. २२-२३) में संसार (बन्ध) और निर्वाण (मोक्ष) की ठीक इसी तरह की व्याख्या मिलती है। तदनुसार नाना प्रकार के संकल्पों के अन्धकार में डूबा, प्रबल झंझावात के समान अतिचंचल यह चित्त जब राग-द्वेष आदि तुरन्त मलों से घिर जाता है, तो भगवान् वज्री ने इसीको **संसार** कहा है। यही चित्त सभी प्रकार को विकल्प-वासनाओं से मुक्त, राग-द्वेष आदि से निर्लिप्त हो जब प्रभास्वर हो जाता है, जब ग्राह्य-ग्राहक आदि की कोई सत्ता नहीं रह जाती, तो उसी स्थिति को **निर्वाण** कहा जाता है।

वीरशैव मत में वेदान्त का सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही शिवतत्त्व अथवा स्थल कहलाता है और स्वेच्छा से लिंग और अंग का स्वरूप धारण कर लेता है। शिव के समान इसमें अविनाभावसम्बन्ध से रहने वाली उनकी शक्ति भी द्विधा विभक्त हो जाती है। लिंग तत्त्व में रहने वाली शक्ति **कला** के नाम से अंग तत्त्व में रहने वाली शक्ति **भक्ति** के नाम से जानी जाती है। यहाँ कला की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि भक्ति की सहायता से ही अंग और लिंग में ऐक्यभाव की प्रतिष्ठा हो पाती है। इसके कारण अंग और लिंग में विद्यमान द्वैतभाव धीरे-धीरे विलीन हो जाता है। द्वैतभाव का यह विलय ही निवृत्ति कहलाती है। यह निवृत्ति ही यहाँ विश्रान्ति है और यह विश्रान्ति ही परम-पद मानी गई है। इस मत में बन्ध और मोक्ष की यही परिभाषा है। लिङ्गैक्य के नाम से यहाँ मुक्ति को परिभाषित किया गया है। द्वैतभाव की स्थिति ही बन्ध का कारण बनती है।

इसका अभिप्राय यह है कि परशिव का अनन्य शरणागत साधक अन्ततः जब महालिंग के साथ संयुक्त हो जाता है, तो वह **ऐक्य** कहलाता है। इसकी

यह एकता-भावना ही समरस-भक्ति कहलाती है। इसके माध्यम से साधक अपने जीवभाव का परित्याग कर जल में जल तथा अग्नि में अग्नि की तरह अपने मूल शिवस्वरूप में समरस हो जाता है। इस समरसता को ही यहाँ मोक्ष कहा गया है। यहाँ शिवसमता नहीं, लिङ्गाङ्गसामरस्य मान्य हैं। अन्य चार शैव संप्रदायों से यही वीरशैव दर्शन की विशेषता है। इस प्रकार चिच्छक्तिविशिष्ट शिव (लिंग) के तथा समरस-भक्ति से विशिष्ट जीव (अंग) के परस्पर अद्वयभाव को मानने वाले इस सिद्धान्त को शक्तिविशिष्टाद्वैत नाम दिया गया है।

अद्वयवादी शाक्त क्रमदर्शन में भी बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था केवल विकल्प-व्यापार पर ही टिकी हुई है। इस स्थिति में मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा पूरी तरह से निराधार है। अपने स्वरूप का परामर्श करते रहने से चिदानन्द की प्राप्ति के रूप में अपने स्वभाव की अभिव्यक्ति ही यहाँ **मोक्ष** कहलाती है। अपना यह स्वभाव अपूर्णताख्याति रूप आणव मल से जब आवृत हो जाता है, तब पशुदशा से आविष्ट स्वभाव ही **बन्ध** बन जाता है। ज्ञानदान और पाशक्षपण रूप दीक्षाव्यापार द्वारा मलत्रय के दग्ध हो जाने पर जिन जीवों पर दीक्षा-गुरु की कृपादृष्टि पड़ जाती है, ऐसे धन्य जीवों के सामने परमशिव-स्वरूप मोक्ष पुनः अभिव्यक्त हो उठता है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा क्रमदर्शन की यही विशेषता है कि भोग और मोक्ष की समरसता यहाँ मान्य है। यहाँ बताया गया है कि भोग और मोक्ष की इस सामरस्यमय स्थिति में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, चिति-जड़ जैसे सभी शब्द घट और कुम्भ के समान एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। इस स्थिति में भोग भी मोक्ष-स्वरूप और मोक्ष भी भोग-स्वरूप प्रतीत होता है। अनुत्तर संविदद्वयवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करने से ही इस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। त्रिपुरा दर्शन में भी प्रायः इसी सिद्धान्त को मान्यता मिली है। ''श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव'' यही वहाँ की मुख्य मान्यता है।

बौद्ध तान्त्रिक आचार्यों की दृष्टि से संसार और निर्वाण की परिभाषा दी जा चुकी है। सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह (पृ. २७-३५) में आर्हत दर्शन का प्रतिपादन करते समय जीव और अजीव नामक दो तत्त्वों का तथा जीव, अजीव, आस्रव, **बन्ध**, संवर, निर्जरा और **मोक्ष** नामक सात तत्त्वों का एवं इनके साथ धर्म और अधर्म का भी समावेश कर नौ तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इनमें बन्ध और मोक्ष भी समाविष्ट हैं। यहाँ जीव, अजीव, आस्रव, धर्म

और अधर्म बन्ध के तथा संवर और निर्जरा मोक्ष के साधन हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कषाय के कारण कर्म-परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना, अर्थात् आत्मा के साथ बँध जाना **बन्ध** कहलाता है और संवर एवं निर्जरा का पर्यवसान **मोक्ष** में, कर्ममुक्ति में होता है।

इस विषय को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कर्म-बन्ध का कारण कषाय, अर्थात् राग-द्वेष जन्य प्रवृत्ति है। इसके विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है। कर्ममुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक है। नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एवं पूर्वोपार्जित कर्म का क्षय। प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम **संवर** तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम **निर्जरा** है। शैवागम की कर्मसाम्य की स्थिति से इनकी तुलना कर सकते है। ये दोनों क्रियाएँ क्रमश: आस्रव तथा बन्ध से विपरीत हैं। इन दोनों की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति बनती है, अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त करती है, उसे **मोक्ष** कहते हैं। यही कर्ममुक्ति है।

जीवन्मुक्त और जीवन्मुक्ति

अब तक हम बन्ध और मोक्ष के स्वरूप पर विविध तन्त्रागमशास्त्रों के आधार पर प्रकाश डाल चुके हैं। जीवन्मुक्त, मुक्त, मुक्ति के साधन, मोक्ष के भेद जैसे विषय मुक्ति (मोक्ष) से ही संबद्ध हैं। इन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

वैखानस आगम में बताया गया है कि सूर्य की किरणों के स्पर्श से जैसे पत्थर गरम हो जाता है, उसी तरह परमात्मा का दर्शन कर प्रत्यगात्मा (जीव) नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का बन जाता है और परमानन्द का अनुभव करता हुआ भगवान् नारायण के साथ एकरस हो जाता है। इस दशा में पहुँचा जीवात्मा **जीवन्मुक्त** कहलाता है। जीवन्मुक्त साधक अन्त में योग की पद्धति से इस देह का त्याग कर देता है।

सिद्धान्तशैवागम के ग्रन्थ नि:श्वासकारिका में **जीवन्मुक्त** का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस व्यक्ति के सभी भाव जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्ति दशा की तरह विलीन हो जाते हैं, समझ लेना चाहिए कि उसका ज्ञान पर्याप्त परिशुद्ध हो गया है। सर्वज्ञानोत्तर का भी यही कहना है कि जो व्यक्ति जाग्रदवस्था में अपनी समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर तुर्यावस्था में पहुँचता हुआ ईश्वर की भावना

में लीन हो जाता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। देहपात के बाद वह इस संसार से **मुक्त** हो जाता है। ऐसा जीवन्मुक्त व्यक्ति निःश्वासकारिका के अनुसार शिवरूपी सूर्य की शक्तिरूपी किरणों की सहायता से अपनी ज्ञानशक्ति की सामर्थ्य को जगा कर, सारे आवरणों से मुक्त होकर, समस्त शक्तियों से संपन्न भगवान् शिव का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थ स्पन्दकारिका (श्लो. ३०) में जीवन्मुक्त का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि उसके लिए यह सारा जगत् मात्र ईश्वर की लीला है। इस तरह की जिसकी संवित्ति सुदृढ़ हो गई है, ऐसा योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। कालिकाक्रम में भी प्रदर्शित है कि जो साधक सारे विश्व को परिशुद्ध, निरालम्ब, स्वप्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप में देखता है, वह निःसन्देह जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। अद्वैतवाद के प्रतिपादक निशाटन आदि अनेक ग्रन्थों में जीवन्मुक्त का यही स्वरूप निरूपित है।

ऐसे कृतकृत्य जीवन्मुक्त साधक के लिए नित्य, काम्य आदि कृत्यों की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती। प्रभाकौल शास्त्र का कहना है कि साधक जब तक परम शान्त पदवी को नहीं जान पाते, तभी तक पूजा, जप, ध्यान, होम, लिंगार्चन आदि की अपेक्षा रहती है। सर्वाकार, निरामय परमतत्त्व को जान लेने पर इनका क्या प्रयोजन रह जाता है? परमार्थसार, निर्वाणयोगोत्तर आदि ग्रन्थों में भी बताया गया है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति की मृत्यु तीर्थ-स्थान में हो या चाण्डाल के घर में, वाराणसी में हो या कुरुक्षेत्र में, सभी स्थितियों में वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह पुण्य और पाप रूपी पंक से ऊपर उठ जाता है। सन्त कबीर ने भी तो यही कहा है।

जीवन्मुक्तावस्था में मल की स्थिति अवश्य बनी रहती है। किरणागम का कहना है कि विष की शक्ति को जैसे मन्त्र की सहायता से निरुद्ध कर दिया जाता है, उस समय विष का नाश हो गया हो, ऐसी बात नहीं है; उसी तरह से जीवात्मा में मल की स्थिति रहती है, अर्थात् इस स्थिति में विष और मल प्रसुप्तावस्था में रहते हैं।

यहाँ शंका उठती है कि दीक्षा तो समस्त पाशों (मलों) का नाश कर देती है। इस स्थिति में स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर तत्काल शरीर का पात हो जाना चाहिए? किरणागम, सुप्रभेदागम आदि में इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि जैसे घट के बन जाने पर भी कुलाल का चक्र चलता रहता है,

अथवा हींग के निकाल देने पर भी उस पात्र में उसकी गन्ध बनी रहती है, उसी तरह से दीक्षा-प्राप्त व्यक्ति का शरीर भी कार्यरत रहता है। सांख्यकारिका में भी बताया गया है—''चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः''।

सिद्धान्तशैवागम में **कर्मसाम्य** का विवेचन करते समय बताया गया है कि इस अवस्था में परस्परविरोधी पुण्यापुण्यात्मक कर्म सुन्दोपसुन्द-न्याय से आपस में टकराकर नष्ट हो जाते हैं। उस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति उपकार या अपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति राग और द्वेष से मुक्त हो जाता है। उसका चित्त राग-द्वेष के अभाव में सदा प्रसाद गुण से सराबोर रहता है। यही है **जीवन्मुक्त** का वास्तविक स्वरूप। इसको पाकर मानव-जाति धन्य हो सकती है।

जीवन्मुक्ति के विषय में रौरवागम का कहना है कि जैसे प्रदीप्त अग्नि में तूलराशि (रुई) को डाल देने पर वह उसको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, वह पुनः नया आकार नहीं ग्रहण करती; उसी तरह मण्डल में प्रविष्ट होकर दीक्षा और मन्त्र की प्राप्ति के बाद वह दीक्षित व्यक्ति पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता। यह इसका **अपश्चिम जन्म** होता है। यह शब्द **अपुनर्भव** का पर्याय है। वर्तमान जीवन में प्राप्त इस अवस्था को शास्त्रों में **जीवन्मुक्ति** कहा गया है। तन्त्रालोक (१.४४) में कहा गया है कि बौद्ध ज्ञान की सहायता से जब बौद्ध अज्ञान का प्रभाव क्षीण हो जाता है, उस स्थिति में जीवन्मुक्ति तो हथेली पर रखी हुई मिल जाती है।

प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. १६) में बताया गया है कि देह, इन्द्रिय आदि की विद्यमानता में भी जब चिदानन्द की अभिव्यक्ति हो उठती है और चिदैकात्म्य की दृढ़ प्रतीति जाग उठती है, तो वह **जीवन्मुक्ति** दशा कहलाती है। इसके अनुसार साधक इसी जीवन में भोग और मोक्ष, दोनों का साक्षात्कार कर लेता है। अपनी विश्वात्मकता का अनुसन्धान करते रहने से ऐसे जीवन्मुक्त प्रमाताओं को अपने ऐश्वर्य की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती रहती है। इस जीवन्मुक्ति दशा में जनन-मरण की परम्परा में अनुस्यूत जीवात्मा में भी सभी अवस्थाओं में एकरस स्वात्मानन्द की अनुभूति होती रहती है। इस दशा में साधक के हृदय में **स्वात्मस्फुरत्ता**-स्वरूपिणी महासत्ता प्रस्फुटित हो उठती है। इस तरह से सर्वसाम्यस्वभाव स्व-स्वरूप में अवस्थिति ही क्रमदर्शन की जीवन्मुक्ति है। इस जीवन्मुक्ति दशा का उन्मीलन स्वात्मविमर्श-स्वरूप

क्रमपरामर्श से होता है। यह क्रमपरामर्श ही स्वात्मविमर्श को जगाने का मुख्य कारण है और तभी साधक में जीवन्मुक्ति दशा की अभिव्यक्ति हो पाती है।

वैष्णव दार्शनिक जीवन्मुक्ति की स्थिति को स्वीकार नहीं करते। आचार्य रामानुज ने समन्वयाधिकरण के भाष्य में जीवन्मुक्ति का प्रत्याख्यान किया है। प्रत्याख्यान की यह पद्धति स्वात्मविमर्श-लक्षण, स्व-स्वरूप में अवस्थिति के रूप में प्रसिद्ध जीवन्मुक्ति के विषय में लागू नहीं हो सकती, अतः स्वातन्त्र्याद्वयवाद संमत जीवन्मुक्ति के लक्षण में कोई दोष आपतित नहीं होता।

मुक्त

पौष्करागम का कहना है कि पशुभाव से सम्बद्ध रहने के कारण जीवात्मा को पशु कहा जाता है। मुक्त पुरुष का पशुभाव नष्ट हो जाता है, अतः मुक्त पुरुष पति (शिव) भाव को प्राप्त कर लेता है। शरीर का पात (मृत्यु) होने के साथ जीवन्मुक्त साधक **मुक्त** हो जाता है। यहाँ अमलावस्थ जीव मुक्त कहलाता है। शास्त्रों में नाम-रहित, आलम्बन-रहित, इन्द्रिय आदि से अग्राह्य, प्रमाणों का अगोचर, निस्तत्त्व, अर्थात् परमशिव से योजित साधक मुक्त कहलाता है। शिवधर्मोत्तर का कहना है कि जगत् की वास्तविकता को जान लेने पर जीव का अज्ञान दूर हो जाता है, अज्ञान के हट जाने पर राग आदि दोष पैदा ही नहीं होते, इनका उपशम हो जाने पर जीवों के पुण्य-पाप क्षीण हो जाते हैं और इनके नष्ट हो जाने पर वह इसके बाद नये शरीर से संयुक्त नहीं होता। शरीर के न रहने से वह समस्त क्लेशों से दूर हो जाता है और यह क्लेशमुक्त साधक आनन्द में लीन हो जाता है। यही मुक्त कहलाता है। अन्त में मुक्त पुरुष भवोद्भव पद से भी ऊपर शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाता है।

पाशुपत मत के निष्ठायोगयुक्त निरंजन पशु को अवधूत सिद्ध **सिद्ध** के नाम से अभिहित करते हैं। उनका कहना है कि सिद्धावस्था के प्राप्त हो जाने पर सिद्धों के प्रति शिव का कोई अधिकार नहीं बचा रहता (शिवः सिद्धान् प्रति उपरताधिकारः)। लकुलीश (५.२०) कहते हैं कि ऐसा सिद्ध योगी पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता। इसके विपरीत अचिन्त्यागम जैसे ग्रन्थों में परशिव को निरंजन, सर्वात्मा, सर्वतोमुख जैसे शब्दों से सम्बोधित किया गया है। इस तरह से निरंजन सिद्ध शब्द का प्रयोग मुक्तावस्था और जीवन्मुक्तावस्था के लिए भी किया गया है। इन दोनों अवस्थाओं में सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही

यहाँ मुक्तावस्था के लिए निष्ठा शब्द प्रयुक्त है, जीवन्मुक्तावस्था के लिए नहीं, क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था में शरीर की स्थिति बनी रहती है। मुक्तावस्था का जीव ''निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति'' इस श्रुतिवचन के अनुसार निरंजन शिव के साथ साम्य को प्राप्त कर लेता है। अन्तर इतना ही है कि सिद्ध शिव के प्रसाद से मुक्त होते हैं और शिव [१९]अनादिमुक्त है। सिद्ध पुरुष को शास्त्रों में उपरताधिकार बताया गया है, जब कि शिव अनुपरताधिकार हैं, अर्थात् सिद्धों के प्रति शिव का कोई अधिकार नहीं रहता, तो भी अन्य जीवों के प्रति उनका अधिकार बना रहता है।

''भारतीय तन्त्रशास्त्र'' में प्रकाशित अपने निबन्ध (पृ. ३१६-३१७) में डॉ० जे० सी० सिकदर ने बन्धनमुक्त जीव के वासस्थान की चर्चा करते हुए ईषत्प्राग्भार शब्द का प्रयोग किया है। जैन शास्त्रों में ईषत्प्राग्भार स्थान को **सिद्धशिला** कहा गया है। इसको ईषत्प्राग्भार इसलिए कहा गया है कि समस्त लोकों के अन्त में इसकी स्थिति है। यहाँ मुक्त आत्माएँ अनन्त काल तक निवास करती हैं। इस सिद्धशिला पर अनन्त सिद्धों की स्थिति रहने पर भी वे आपस में एक-दूसरे से कभी बाधित नहीं होते।

शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में सिद्धों और नाथों की चर्चा मिलती है। सिद्धान्तशैव मत में शिव-शंभु नामान्त तथा अन्यत्र नाथ, आनन्दनाथ, आनन्द, प्रभु, पाद, बोधि जैसे शब्दों से संयुक्त दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ परम्परा **गुरुपंक्ति** (गुरुमंडल) = क्रमोदय के नाम से पूजित है। प्रत्येक सम्प्रदाय में इनकी परम्परा सुरक्षित है, क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि उनको अपना यह ज्ञान देवताओं, सिद्धों, नाथों और मानव गुरुओं की परम्परा से उन तक पहुँचा है। उनका कहना है कि ये सिद्ध, नाथ और मानव गुरु जीवन्मुक्तावस्था में पहुँच चुके थे।

मुक्ति के साधन

मुक्ति के साधनों की चर्चा करते समय यह बता देना आवश्यक है कि साधक को सबसे पहले सकलीकरण, भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा जैसे साधनों से अपने देह को विद्यामय बना लेना, स्वयं देव-स्वरूप हो जाना जरूरी है। शास्त्रों

---

१९. ऊपर की १४ संख्या की टिप्पणी देखिए। p. 30

का कहना है कि साधक को बाह्य आराधना से पहले आन्तर उपासना करनी चाहिए। अपनी-अपनी पद्धति से इसका विधान सर्वत्र निर्दिष्ट है। [२०] "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी विद्यमान है।

वैखानस आगम में भगवान् की आराधना जप, हवन, अर्चन एवं ध्यान के भेद से चार तरह से की जाती है। भगवान् का ध्यान करते समय सावित्री, अष्टाक्षर आदि मन्त्रों का निरन्तर अभ्यास **जप,** अग्निहोत्र आदि वेदविहित विधियों का आचरण **हवन,** घर या देवालय में वैदिक और आगमिक पद्धति से प्रतिमा आदि की आराधना **अर्चन** तथा अष्टांग योग की पद्धति से जीवात्मा और परमात्मा में अभेद-भाव का चिन्तन **ध्यान** कहलाता है। इस चतुर्विध आराधन से प्रसन्न हो भगवान् नारायण साधक भक्त को उसकी योग्यता के अनुसार चतुर्विध मुक्ति प्रदान करते हैं।

वैखानस मत में आराधना के साकार (समूर्त) और निराकार (अमूर्त) नाम के दो भेद बताये गये है। साकार आराधन प्रतिमा में किया जाता है और निराकार आराधन स्थण्डिल, जल, सूर्यमण्डल और हृदय में विहित है। पांचरात्र आगमों में कुंभ, मण्डल, बिम्ब और अग्नि में किया गया अर्चन चतुःस्थानार्चन के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं अन्यत्र बताया गया है कि तीर्थस्थान पर भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान् की आराधना की जाती है। तीर्थस्थान पर पवित्र जल की अंजलि देकर, भावना-निर्मित भोगों से [२१]हृदय में, अर्घ्य आदि उपचारों से बिम्ब (मूर्ति) में और [२२]सात प्रकार की समिधाओं को घृत और तिल से संयुक्त कर वेदि में विद्यमान अग्नि में भगवान् की पूजा की जाती है।

पांचरात्र मत के अनुयायी चतुःस्थानार्चन के अतिरिक्त अपनी दिनचर्या को पाँच कालों में बाँट कर अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग नामक

---

२०. भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास, भावना आदि के माध्यम से साधक स्वयं देवस्वरूप बन कर अपने इष्टदेव का यजन करता है।

२१. ऊपर की १८वीं टिप्पणी में हृदयंगम अथवा आभ्यवहारिक भोग के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है।

२२. सात्वतसंहिता के भाष्य (पृ. ९९) में सात समिधाओं में समित्, पुष्प, धूप, मधुपर्क, बीज, चरु और घृत का परिगणन किया गया है। अन्यत्र दूर्वा, अपामार्ग और कुशा का भी समावेश है।

क्रियाकलापों का भी अनुष्ठान करते हैं। इसीलिए इनको पंचकालपरायण कहा जाता है। इन पाँच कालों का और उनमें सम्पन्न होने वाले अभिगमन आदि उपचारों का स्वरूप पांचरात्ररक्षा के तृतीय अधिकार में नाना ग्रन्थों के प्रमाण से विस्तार से प्रदर्शित है। इज्या काल के प्रसंग में अष्टविध अनुयागों का निरूपण जयाख्या (२२.७५-८०) में किया गया है। जयाख्या (१२.८०-८३) में मानस याग का विवरण देते समय [२३]लय, भोग और अधिकार नामक यागों का भी परिचय दिया गया है। यह विशेष रूप से अवधेय है कि पांचरात्र मत में कर्म की भी मोक्ष-साधनता प्रतिपादित है।

"नैष्कर्म्यं कर्मणां यत:" (१. ३. ८) यह श्रीमद्भागवत का वचन है। व्याख्याकार श्रीधर स्वामी का कहना है कि कर्मों की भी मोक्षप्रदता यहाँ वर्णित है। शैव और वैष्णव आगमों में ज्ञान, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पाद विद्यमान हैं। आचार्यों का कहना है कि इन चारों की व्यस्तरूप में अथवा समस्तरूप में मोक्षसाधनता इन आगमों में विद्यमान है। "भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते" यह सिद्धान्त भागवत आदि में विशेष रूप से मान्य है। "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष:" (७. २६. २) यह छान्दोग्य उपनिषत् का वाक्य रामानुज वेदान्त में भक्ति-प्रपत्ति सिद्धान्त का मूल आधार माना जाता है। भागवत मत में भक्तिसिद्धान्त को विशेष मान्यता मिली है। श्रीमद्भागवत (७. ५. २३) के अनुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के रूप में नवधा भक्ति का और भागवत संहिताओं में परिगणित परमसंहिता (४. ७२-७५) में अष्टविध भक्ति का स्वरूप प्रदर्शित है। रामानुज मत में न्यासविद्या ही प्रपत्ति अथवा शरणागति कहलाती है। इस शरणागति के पाँच अथवा छः अंगों का विवेचन लक्ष्मीतन्त्र जैसे वैष्णव आगमों में भी हुआ है। भागवत (२. १०. ४) में भगवान् के अनुग्रह को पोषण कहा गया है। शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक वल्लभाचार्य का सिद्धान्त इसी के आधार पर पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भगवान् के प्रसाद, अनुग्रह, दयाभाव को ही यहाँ **पुष्टि** शब्द से अभिव्यक्ति मिली है। इस तरह से यहाँ

---

२३. मतंगपारमेश्वर (वि. २.१४) में शिव की लय, भोग और अधिकार दशाओं की चर्चा है। वसन्ततिलक की टीका (६.१६) में भी ये शब्द प्रयुक्त हैं। इनकी तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

शक्तिपात के सिद्धान्त को ही एक अभिनव पद्धति से प्रस्तुत किया गया है, ऐसा कहा जा सकता है।

पाशुपत मत में लाभ, मल, उपाय, देश, अवस्था, विशुद्धि, दीक्षाकारी और बल नामक आठ गणों के पाँच-पाँच भेद वर्णित हैं और नवम गण में तीन प्रकार की वृत्तियों का समावेश किया गया है। इन सब साधनों से सम्पन्न व्यक्ति को ही यहाँ दुःखान्त (मोक्ष) का अधिकारी मानी गया है।

कौल और बौद्ध मत में मोक्ष के साधनों में सहज योग को विशेष मान्यता मिली है और कापालिक मत में बताया गया है कि कण्ठिका, रुचक आदि षड्विध मुद्राओं और कपाल एवं खट्वांग नामक उपमुद्राओं को धारण करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है। कापालिक मुद्राओं को बौद्ध तन्त्रों में भी मान्यता मिली है। वहाँ यज्ञोपवीत को हटाकर पंचमुद्रा-पक्ष भी मान्य है। सिद्धान्तशैव दर्शन में कर्मसाम्य, मलपरिपाक और शक्तिपात की गणना मोक्ष के साधनों में प्रधान रूप से की गई है। यहाँ दीक्षा को प्रधानता दी गई है।

मोक्षकारिका में बताया गया है कि शंभु के प्रसाद से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, प्रभु की शक्ति इसमें सहायता करती है और पशुस्वरूप आत्मा पाशों से मुक्त होकर इसे प्राप्त करता है। दीक्षोत्तरागम में भी बताया गया है कि शिव के प्रसाद से ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। पौष्करागम का कहना है कि पुरुष अपनी सामर्थ्य से कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त अकल्याणों को दूर करने वाले शिव का प्रसाद ही एकमात्र इसका उपाय है। स्वायम्भुवागम में भी कहा गया है कि पाशों के ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती और पशु का ज्ञान भी इसको देने में असमर्थ है। मुक्ति की प्राप्ति तो पूरी तरह से पति-ज्ञान से ही हो सकती है। मोक्षकारिका में विस्तार से इस विषय का निरूपण हुआ है। वहाँ (श्लो. ७३-९५) बताया गया है कि भगवान् शिव अनन्त आदि आठ विद्येश्वरों, सात करोड़ महामन्त्रों, शतरुद्रों एवं मण्डलाधिपतियों को अधिकार प्रदान करते हैं और बाद में ये ही अधिकारी पुरुष अन्य जीवों को मोक्ष के लिए प्रेरित करते हैं।

मोक्षावस्था में सिद्धान्तशैवों के अनुसार सर्वज्ञता आदि छः गुणों की अभिव्यक्ति के कारण परमेश्वर से समानता प्राप्त होती है। यहाँ समुत्पत्ति, संक्रान्ति और आवेश से शिवसमता की प्राप्ति का निषेध किया गया है। इस

विषय की चर्चा पहले हो चुकी है। परमोक्षनिरासकारिका (श्लो. ७) में भी इन चारों पक्षों की चर्चा कर बुद्धि एवं वाणी के अगोचर अभिव्यक्ति के पक्ष की श्रेष्ठता स्थापित है। केवल शैवमत के अनुयायियों के ही नहीं, अन्य दार्शनिकों के मोक्षविषयक विचारों की भी परमोक्षनिरासकारिका में समीक्षा की गई है। मोक्षकारिका (श्लो. ११८-१४२) में भी ये सभी पक्ष चर्चित हैं।

सिद्धान्तहृदय जैसे ग्रन्थों में षडध्व-शुद्धि को भी मोक्ष का कारण माना गया है। दीक्षित व्यक्ति जब अपने शरीर की शुद्धि करता है, तो इस षड्विध अध्वा की भी शुद्धि हो जाती है। तन्त्रालोक के ११-१२वें आह्निकों में इसकी विस्तार से चर्चा मिलती है। षडध्वविलापन अथवा षडध्वशुद्धि के नाम से यह प्रक्रिया प्रदर्शित है। षडध्वशोधन की प्रक्रिया को सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. ३८-४०) में दिखाया गया है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में आणव, शाक्त और शांभव उपायों से तथा अनुपाय-प्रक्रिया से मोक्ष-प्राप्ति की बात कही गई है। मालिनीविजयतन्त्र (२. २१-२३) के तीन श्लोकों में संक्षेप में इन तीनों उपायों का और उनकी सहायता से प्राप्त होने वाली त्रिविध समावेश (समाधि) दशाओं का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के अनेक आह्निकों में विस्तार से और तन्त्रसार (पृ. १०-११४) में कम विस्तार से ये वर्णित हैं। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की चार गाथाओं (५६-५९) में तथा उनकी परिमल व्याख्या (पृ. १३८-१५३) में संक्षेप से इस विषय को समझाया है। विज्ञानभैरव के हमारे संस्करण के हिन्दी उपोद्घात (पृ. १५-२०) में इन सबका सार देखा जा सकता है। अनुपाय-प्रक्रिया को हम सहज स्थिति से समरस कर सकते हैं। तन्त्रसार की दो बातें यहाँ विशेष रूप से अवधेय हैं। एक तो यह कि उपायों में भेद होते हुए भी उपेय में कोई भेद नहीं है और दूसरा यह कि अन्ततः परमतत्त्व को प्रकाशित करने में उपायों की कोई भूमिका नहीं रह जाती, वह तो योग्य साधक में अपने आप प्रकाशित हो उठता है।

वीरशैवागम में शैव पंचयज्ञ का विधान है। इनके नाम हैं—तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान। सिद्धान्तशिखामणि (९. २१-२४) में इनका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—शिवपूजा की सामग्री के संपादन में तथा पूजा आदि क्रियाओं के करने में जो शरीर का शोषण होता है, उसको सहर्ष सहन करना ही **तप** है। अनन्यभाव से अपने इष्टलिंग का अर्चन करना ही **कर्म** कहलाता है। पंचाक्षर

मन्त्र, प्रणव मन्त्र या श्री रुद्राध्याय की पुनः पुनः आवृत्ति ही **जप** है। शिवस्वरूप का चिन्तन **ध्यान** और शैवागमों के वास्तविक अभिप्राय का जानना ही **ज्ञान** कहलाता है। इस पंचविध शिवयज्ञ का प्रतिदिन सम्यक् अनुष्ठान करने वाला साधक मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

क्रमदर्शन में याग, होम, जप, व्रत और योग नामक पाँच उपाय प्रदर्शित हैं। इनमें सभी पदार्थों की स्थिति परमेश्वर में ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस शुद्ध विकल्प की सिद्धि के लिए परमेश्वर के प्रति सभी भावों को अर्पित कर देना ही **याग** है। सभी भाव परमेश्वर के तेज से आप्यायित हैं, इस शुद्ध विकल्प की सिद्धि के लिए संवित्स्वरूप तेज में समस्त भावों की आहुति दे देना ही **होम** है। अशुद्ध और शुद्ध परामर्श के उदय के लिए बाह्य और आन्तर प्रमेयों से निरपेक्ष स्व-स्वभाव स्वरूप परमतत्त्व का अन्तःपरामर्श ही **जप** कहलाता है। सर्वत्र सर्वदा निरुपाय परमेश्वरता के लाभ के लिए परमेश्वर के साथ अपनी समानता के अभिमान को जगाने के लिए अपनी देह के प्रति भी घट आदि के समान दृष्टि को जगा लेना ही **व्रत** है। इस तरह के विचित्र, शुद्धविद्या के अंशभूत विकल्पों के सहारे अनपेक्षित अशुद्ध विकल्पों का परिशोधन करने के उपरान्त स्वाभाविक परमार्थ तत्त्व प्रकाशित हो उठता है। उसका उसी रूप में निरन्तर प्रकाशन होता रहे, इसके लिए परमेश्वर के इस स्वरूप का परामर्श रूप शुद्ध विकल्प ही **योग** कहलाता है।

त्रिपुरादर्शन में श्रीचक्र की बाह्य और आन्तर उपासना, श्रीविद्या के षड्विध अर्थ, परा-परापरा-अपरा नामक त्रिविध पूजा, वाग्भव-कामराज-शक्ति नामक तीन बीजों में नाद की भावना के साथ जप के समय पंचविध अवस्था, षड्विध शून्य और सप्तविध विषुवत् की भावना का विधान—ये सब मुक्ति के साधनों में प्रमुख हैं। बहिर्याग और अन्तर्याग के भेद से त्रिपुरा भगवती की उपासना के दो प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। पात्रासादन से लेकर, शान्तिस्तव के पाठ-पर्यन्त कर्मसमूह **बहिर्याग** कहलाता है। आधार से लेकर राजदन्त (द्वादशान्त) पर्यन्त तेजोमय तन्तु की भावना अथवा मानस पूजा **अन्तर्याग** कहलाती है।

सौन्दर्यलहरी के व्याख्याता लक्ष्मीधर त्रिपुरोपासना के तीन प्रकार बताते हैं। तदनुसार कौलमत, मिश्रमत और समयिमत की पद्धति से यह उपासना की जा सकती है। इनका परिचय देते हुए वे समयिमत की पद्धति से **समय,** अर्थात् **सादाख्य** तत्त्व की सपर्या को श्रेष्ठ मानते हैं। यहाँ चतुर्विध अथवा षड्विध

ऐक्य की भावना को महत्त्व दिया गया है। बिन्दु, नाद और कला से अतीत भागवत तत्त्व की यहाँ भावना की जाती है। यही तत्त्व **सुधासिन्धु या सरघा** के नाम से भी जाना जाता है। यहाँ त्रिपुरा विद्या को ही ब्रह्मविद्या भी कहा गया है। [२४]महावेध की पद्धति से इस सादाख्य तत्त्व का साक्षात्कार होता है।

बौद्ध तन्त्रों में चित्त की प्रभास्वरता को ही सुगत पदवी की प्राप्ति का प्रमुख उपाय बताया गया है। इसके लिए पंचाकाराभिसंबोधि, अर्थात् पंचविध ज्ञान अपेक्षित है। आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षा, कृत्यानुष्ठान और सुविशुद्धधर्मधातु—ये इनके नाम हैं। इन पंचविध ज्ञानों के उत्तरोत्तर विकास से और [२५]चतुर्ब्रह्मविहार की भावना से बोधिचित्त की और प्रभास्वरपद की प्राप्ति से परमतत्त्व का साक्षात्कार हो पाता है। इस परमतत्त्व का स्वरूप यथास्थान बताया जा चुका है।

जैन तन्त्रों में [२६]सकलीकरण की प्रक्रिया के साथ [२७]ध्यान योग का अभ्यास मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना गया है। इनके साथ अष्टप्रकारी आन्तर पूजा का, त्रिविध [२८]श्रुत, चिन्ता और भावनामय का ज्ञान का, शिव, विष और काम नामक तत्त्वों का विश्लेषण भी इसी दृष्टि से किया गया है। विभिन्न शैव-शाक्त तन्त्रों में भी अपनी-अपनी पद्धति से ये सब विषय चर्चित हैं। हम कह सकते हैं कि जैन तन्त्रों में ध्यान-पद्धति का विशेष महत्त्व है। शुभचन्द्र के

---

२४. महावेध की पद्धति सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर की टीका (पृ. १८५) में देखिए।

२५. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार ब्रह्मविहारों की चर्चा पालि वाङ्मय के साथ बौद्ध तन्त्रों में, पातंजल योगसूत्र (१.३३) तथा तत्त्वार्थसूत्र (७.११) में भी क्रमभेद अथवा नामभेद के साथ मिलती है।

२६. सौमशंभु की कर्मकाण्डक्रमावली (श्लो. १४५) में—''हृदयादिकरान्तेषु कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च। हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं मतम्॥'' इस प्रकार सकलीकरण का लक्षण दिया गया है। इसका अभिप्राय है—विविध न्यासों के द्वारा अपने शरीर को मन्त्रमय (देवमय) बनाना। जैन तन्त्रों में यह शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त है।

२७. ध्यान शब्द का अर्थ यहाँ अनेक स्थलों पर दिया जा चुका है। जैन तन्त्रों में इसका अधिक विस्तार है। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत की वहाँ चतुर्विध ध्यान के रूप में भावना करने की विधि बताई गई है। नेत्रतन्त्र के छठें और सातवें अधिकार में स्थूल, सूक्ष्म और पर योग का परिचय देते समय ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है।

२८. श्रुत, चिन्ता और भावनामय ज्ञान की चर्चा मालिनीमत (४. २८-३२) में भी मिलती है।

ज्ञानार्णवतन्त्र में, हेमचन्द्र के योगशास्त्र में और आचार्य हरिभद्र सूरि के योगविषयक ग्रन्थों में इनका विशेष विवरण देखा जा सकता है। शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने-अपने ग्रन्थों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की चर्चा बहुत विस्तार के साथ की है। शाक्त तन्त्र योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द ने चार पीठों के प्रसंग में कहा है—

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम्॥

मूलाधार, हृदय , भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र—ये क्रमशः इनके स्थान माने गये हैं। इन चार शब्दों का कौल तन्त्रों में भी विशिष्ट स्थान है। जैन ज्ञानार्णवतन्त्र की प्रस्तावना (पृ. ३८ मूल एवं टि.) में बताया गया है कि छठी शताब्दी के योगीन्द्र द्वारा विरचित योगसार में इन चारों ध्यानों का उल्लेख है। काश्मीर शैवागम के प्रमुख ग्रन्थ मालिनीमत में भी इनका उल्लेख मिलता है।

मोक्ष के भेद

मोक्ष के विविध भेदों के विषय में भी तान्त्रिक सम्प्रदायों की अपनी-अपनी दृष्टि है। वैखानस आगम में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य लक्षण चतुर्विध मोक्ष वर्णित है। ये नाम तो अन्यत्र भी मिलते हैं, किन्तु इस शास्त्र की विशेषता यह है कि यहाँ सालोक्य में आमोद की, सामीप्य में प्रमोद की, सारूप्य में संमोद की और सायुज्य में वैकुण्ठ की प्राप्ति की बात कही गई है। भागवत महापुराण (३. २९.१२-१३) में बताया गया है कि भगवान् के ऐसे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व को भी स्वीकार नहीं करते। यहाँ सार्ष्टि शब्द प्रयुक्त हुआ है। भागवत के टीकाकार श्रीधर आदि आचार्यों ने **सालोक्य** का अर्थ भगवान् के साथ एक लोक में निवास, सार्ष्टि का समस्त ऐश्वर्य, **सामीप्य** का निकट रहना, **सारूप्य** का एक सरीखा रूप तथा **एकत्व** का अर्थ सायुज्य किया है। इस प्रकार यहाँ पंचार मुक्ति के पाँच प्रकार प्रदर्शित हैं। यहाँ मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्यत्र भक्ति की पराकाष्ठा को ही मुक्ति माना गया है।

पाशुपतमत में दुःखान्त नामक मोक्ष के दो भेद बताये गये हैं—अनात्मक और सात्मक। सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त उच्छेद अनात्मक दुःखान्त है। न्याय-वैशेषिक मत में मोक्ष का यही स्वरूप है। दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति

लक्षण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति सात्मक दुःखान्त है। ऊपर वर्णित सार्ष्टि नामक मोक्ष से इसकी तुलना कर सकते हैं। इस स्थिति में पारमैश्वर्य की प्राप्ति होती है, अर्थात् पाशुपत मत की विधि के अनुष्ठान से साधक पुनरावृत्ति से मुक्त होकर पति के साथ सामीप्य आदि का लाभ करता है।

वैष्णवागमों और पुराणों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप और सायुज्य नामक जिस चतुर्विध मोक्ष का वर्णन मिलता है, उसकी चर्चा सुप्रभेदागम में भी मिलती है। यहाँ चर्या, क्रिया, योग और विद्या तत्त्व के क्रम से आनुपूर्वी के अनुसार शिवसालोक्य, शिवंसामीप्य, शिवसारूप्य और शिवसायुज्य की प्राप्ति की बात कहीं गई है। शिवज्ञानबोधसंग्रह में भी इसी रूप में यह विषय उक्त है। **सायुज्य** का लक्षण बताते हुए यहाँ कहा गया है कि शिव में नियोजित चित्त ही सायुज्य कहलाता है।

मतंगपारमेश्वर में सात प्रकार के मोक्ष की चर्चा मिलती है (योग. ५. ६३-६९)। वहाँ प्रथमतः मोक्ष के पर और अपर नाम दो भेद बताये गये हैं। इनमें अपर मोक्ष छः प्रकार का है और पर मोक्ष सातवाँ है। सप्तविध मोक्ष की चर्चा शिवतत्त्वविलास में भी मिलती है। अथवा अपर मोक्ष के छः पद माने गये हैं— भवोद्भव, शान्त्यतीत, शान्ति, नाद, ऐश और विद्या। इनमें से सबसे ऊपर के षष्ठ भवोद्भव पद के भी ऊपर **मुक्त** की स्थिति मानी गई है, अतः इसे भवोद्भवपदातीत कहा जाता है। यहाँ प्रथम छः मुक्तों के पद माने गये हैं। यह क्रम विद्या से लेकर भवोद्भव पर्यन्त चलता है। अन्त में मुक्त भवोद्भव पद से अतीत **शिवपद** में प्रतिष्ठित हो जाता है।

स्वायम्भुवागम में बताया गया है कि भवोद्भव पद के ऊपर निष्कम्प ज्योति के समान इस कृतकृत्य जीव में मुक्तिदशा में शिवभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है। चतुर्विध शिवसमता के प्रसंग में अभिव्यक्ति पक्ष की चर्चा हो चुकी है। यहाँ भव का अर्थ संसार है, इसमें जिसका उद्भव होता है, जो जन्म लेता है, उसे **भवोद्भव** कहते हैं। अथवा भव का अर्थ सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल जीवों का पद और उद्भव का अर्थ अनन्त आदि का पद है। इस भव और उद्भव से जो अतीत है, वही भवोद्भव-पदातीत कहलाता है। अथवा अपर मोक्ष के छः पदों में षष्ठ भवोद्भव के भी ऊपर मुक्त की स्थिति मानी गई है, अतः उसे **भवोद्भव-पदातीत** कहा जाता है।

मृगेन्द्रागम और उसकी वृत्ति (वि. २.९) में तो भोग और मोक्ष दोनों के ही पर और अपर नामक दो भेद बता कर उनके अवान्तर अनेक भेदों की चर्चा

की गई है। वृत्तिकार नारायणकण्ठ का यहाँ कहना है कि पर और अपर के भेद से विभक्त भुक्ति और मुक्ति के बाद में अनेक विभाग हो जाते हैं। इनमें कालाग्निभुवन से लेकर कला तत्त्व तक के समस्त भुवनों के विविध ऐश्वर्यों का आधिपत्य परा मुक्ति और उनमें निवास अपरा मुक्ति कहलाती है। इसी तरह से पारमेश्वरसाम्य परा मुक्ति और मन्त्र-मन्त्रेश्वर के रूप में स्थिति अपरा मुक्ति कहलाती है। इनके विविध भेदों की वहाँ सूचना दी गई है (पृ. ६०)।

भागवत महापुराण की तरह त्रिपुरा सम्प्रदाय में भी पंचविध मोक्ष का स्वरूप वर्णित है। इनके नाम, क्रम और स्वरूप में थोड़ा अन्तर है। यहाँ इनकी प्राप्ति के लिए मणिपूर से लेकर सहस्रार पर्यन्त पाँच चक्रों की उपासना की जाती है। इनमें मणिपूर के उपासक की **सार्ष्टि** नामक मुक्ति मिलती है। सार्ष्टि का अर्थ है, देवी के पुर के पास दूसरा पुर बना कर वहाँ रहते हुए देवी की आराधना करना। वियत्कमल की पूजा में लगे साधक को **सालोक्य** मुक्ति मिलती है। सालोक्य का अर्थ है, देवी के पुर में निवास। विशुद्धिचक्र का उपासक **सामीप्य** मुक्ति पाता है। सामीप्य का अर्थ है, भगवती के पादाभिवन्दन की योग्यता। आज्ञाचक्र का उपासक **सारूप्य** मुक्ति पाता है। सारूप्य का अर्थ है, समानरूपता। सायुज्य मुक्ति से इसका भेद पृथक् देह के कारण होता है, अर्थात् सारूप्य मुक्ति से आराधक को **सादाख्या** भवगती का-सा रूप प्राप्त होता है। यहाँ साधक बाह्य दुःख से मुक्त हो जाता है, इसलिए ऊपर की चारों स्थितियों को भी मुक्ति कहा जाता है। वस्तुतः मुक्ति **सायुज्य** नाम की ही है। यहाँ शाश्वत मुक्ति सहस्रदल कमल के उपासकों को ही मिलती है। यह मुक्ति सुखस्वरूपा है। दुःख का अत्यन्त उच्छेद हो जाने के बाद सायुज्य मुक्ति के साधक का शिव-शक्ति सम्पुट में अन्तर्भाव हो जाता है।

बौद्ध शास्त्रों में निर्वाण (मोक्ष) के सोपधिशेष और निरुपधिशेष नामक दो भेद बताए गए हैं। प्रथम निर्वाण जीवन्मुक्त स्थिति से समरस है। अप्रतिष्ठित निर्वाण नामक तृतीय स्थिति भी यहाँ वर्णित है। इस स्थिति में करुणासागर भगवान् बुद्ध दुःखी जीवों के उद्धार के लिए उनके बीच में ही रहते हैं। क्या मानव कभी इस स्थिति तक पहुँचेगा?

इसीके साथ यह बन्ध-मोक्ष संबन्धी अध्याय पूरा होता है॥



उपसंहार

अब तक हम तन्त्रागमशास्त्र के प्राय: सभी प्रमुख विषयों पर अपनी समझ के अनुसार प्रकाश डाल चुके हैं। इनकी समीक्षा कर लेने का यह उचित अवसर है। यहाँ पूरी मानवजाति को दीक्षा का अधिकारी माना गया है। दीक्षा के दो प्रमुख अंग हैं—गुरु और शिष्य। इनमें गुरु में ज्ञान की और शिष्य में श्रद्धा-भक्ति की आवश्यकता मानी गई है। अपने में शक्तिपात के चिह्नों को देखकर शिष्य गुरु की शरण में जाता है। ''समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'' (मुण्डको. १. २. १२) उपनिषद् के इस वाक्य में इसी स्थिति को दिखाया गया है। कभी-कभी स्वयं गुरु भी अपनी योग्यता से अनभिज्ञ किसी विशिष्ट शिष्य को दीक्षा देता है। महान् महिमाशालिनी विदुषी महिला को भी दीक्षा देने का अधिकार यहाँ मान्य है और संविद्देवियों के द्वारा स्वप्न में भी योग्य शिष्य को दीक्षा दी जाती है। दीक्षित व्यक्ति अपने आप अभिषेक का अधिकारी बन जाता है, ऐसा एक पक्ष है। सर्वमान्य सिद्धान्त यह है कि योग्य आचार्य को ही अभिषिक्त किया जाय। यह पूर्णाभिषिक्त गुरु ही योग्य व्यक्ति को दीक्षा देने का अधिकारी होगा। बौद्ध तन्त्रों में दीक्षा के स्थान पर अभिषेक का विधान मान्य है। यहाँ भी चतुर्थाभिषेक से सम्पन्न गुरु ही योग्य शिष्य का अभिषेक करेगा। शिष्य के ज्ञानसम्पन्न हो जाने पर ही उसका अभिषेक किया जाय, यह अतीत आवश्यक है।

दीक्षा में दान और क्षपण ये दो व्यापार आवश्यक हैं। इसमें गुरु शिष्य को मन्त्र का दान करता है और मन्त्र की आराधना से शिष्य के त्रिविध मलों (पाशों) का क्षय होता है। इसके लिए मन्त्र का [२९]पुरश्चरण (पूर्वसेवा) अपेक्षित है। दीक्षा देते समय और मन्त्र का पुरश्चरण करते समय भी अग्निसमाराधन की अपेक्षा रहती है। इसके लिए तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में वैदिक विधि-विधानों का सहारा लिया जाता है। [३०] ''तन्त्रेषु

---

२९. भास्करराय ने सौभाग्यरत्नाकर जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से अपने सेतुबन्ध (नित्याषोडशिकार्णवटीका) व्याख्यान के द्वितीय विश्राम के प्रारम्भ में पुरश्चरण का विधान बताया है।

३०. यह निबन्ध प्रथमत: सन् २००१ में रोम (इटली) से डॉ० आर० न्योली के संमान में प्रकाशित ग्रन्थ में हुआ है। ''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' (पृ. ११-२६) में इसका राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनूदित स्वरूप देखा जा सकता है।

वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभाव:" शीर्षक हमारे निबन्ध में इसका स्वरूप देखा जा सकता है। मन्त्र-दान के समय अंशक परीक्षा और [३१]वर्णचक्र का निर्माण आवश्यक है। तभी शिष्य को उचित मन्त्र का दान किया जा सकता है।

सिद्धान्तशैवागम में मल, तिरोधानशक्ति, महामाया, माया और कर्म नामक पाँच पाश परिगणित हैं। इनमें तिरोधानशक्ति और महामाया को अन्य आचार्य पाश नहीं मानते। फलत: प्रत्यभिज्ञा, वीरशैव आदि मतों में मल, माया और कर्म नामक तीन ही पाश मान्य हैं। आणव मल, मायीय मल और कार्म मल के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। दीक्षा से इन त्रिविध मलों का क्षय हो जाता है। ऐसे योग्य शिष्य में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील के नाम के पाशाष्टक की तथा तन्त्रालोक (८.२९१-२९२) में वर्णित अष्टविध शंकाओं की कोई स्थिति नहीं रह जाती।

दीक्षा का एक प्रयोजन षडध्वशुद्धि भी है। यह जगत् षडध्वात्मक है। षडध्वशुद्धि, षडध्वविलापन जैसे विषयों की चर्चा यहाँ हो चुकी है। इस षडध्वात्मक जगत् का, विकल्प-व्यापार का परिशोधन होने पर ही साधक परमतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है। दीक्षा देते समय गुरु षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया चालू करने के लिए **गोलक** विधि से शिष्य के शरीर में प्रवेश करता है। इस विधि का वर्णन क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (२०.२८-२९) में कल्लट की तत्त्वार्थचिन्तामणि को उद्धृत करते हुए किया है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। इसी प्रसंग में क्षेमराज ने मन्त्रविधान, मुद्राविधान और पांसव विधि का स्वरूप भी बताया हैं (२०. २८-३९)। गोलक-न्यास की चर्चा सूक्ष्मागम के परिशिष्ट में और प्रपंचसार के २७वें पटल में भी मिलती हैं। इन सब विधाओं से क्या हम वंचित हो चुके हैं?

षडध्व के अन्तर्गत परिगणित पदाध्वा के स्वरूप के विषय में मतवैभिन्न्य देखने को मिलता है। सिद्धान्तशैवागमों में व्योमव्यापी आदि ८१ पदों को मान्य किया गया है। कहीं-कहीं ९४ पदों की भी चर्चा मिलती है। इनके नाम २२४ भुवनों की नामावली के साथ सिद्धान्तसारावलि के परिशिष्ट (पृ. ३७५-३८३) में

---

३१. सात्वतसंहिता में द्विविध वर्णचक्र (२. १४-२३) और (९. ६२-६५) प्रदर्शित है। मातृकाचक्र के नाम से प्राय: सभी आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसका विवरण मिलता है। इन्हींकी सहायता से मन्त्रों का उद्धार किया जाता है। पौष्करसंहिता, वातुलशुद्धाख्यतन्त्र जैसे ग्रन्थों में इनके चित्र भी देखे जा सकते हैं।

देखे जा सकते हैं। तन्त्रालोक (३. १९७) में अभिनवगुप्त और उसके टीकाकार जयरथ ने ''एकाशीतिपदा देवी'' का अर्थ करते समय इसकी भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। मतंगपारमेश्वर (विद्या. ७. ३१) का यह वचन है। वहाँ क्रिया पाद में व्योमव्यापी आदि ८१ पद ही परिगणित हैं किन्तु जयरथ इसका भिन्न ही अर्थ करते हैं। वे बताते हैं कि क आदि तैंतीस व्यंजनों की ३३ अर्धमात्रा, ह्रस्व स्वरों की दस, दीर्घ स्वरों की ३२ और प्लुत वर्ण की छः—इस तरह से सबको मिलाकर ८१ अर्धमात्राएँ बनती हैं।...... इस परा मन्त्र-माता में ८१ मात्राओं की स्थिति रहने से, ८१ संख्या के पदों से बनने से इसको एकाशीतिपदक मन्त्र कहते हैं। इस व्याख्या में आगमों का संवाद अपेक्षित है।

प्रसंगवश हमें यह भी देखना है कि **पद** शब्द का प्रयोग तन्त्रागमशास्त्र में विभिन्न अर्थों में हुआ है। सात्वतसंहिता (९. १२-१३) में भगवान् के मन्त्रमय स्वरूप को संज्ञा, पद, पिण्ड और बीज के रूप में चतुर्धा विभक्त किया गया है। इनमें पदात्मक मन्त्र जाग्रद्-वृत्ति, संज्ञात्मक स्वप्न-वृत्ति, पिण्डात्मक सुषुप्ति-वृत्ति और बीजात्मक मन्त्र तुर्य-वृत्ति माने गये हैं। वहाँ विभिन्न स्थलों पर इनका परिचय दिया गया है। भाष्यकार (पृ. ४४१-४४८) ने अड़तीस पद-मन्त्रों का परिगणन किया है। इनका स्वरूप अन्यत्र वर्णित माला-मन्त्रों से मिलता-जुलता है। सात्वता (१८. २०७-२११) में चातुरात्म्यस्वरूप की भी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नामक चार पदों में स्थिति मानी गई है। यहाँ चार अवस्थाओं को भी **पद** नाम दिया गया है।

त्रिपुरा संप्रदाय में भगवती त्रिपुरा के पदविक्षेप और क्रमोदय नामक स्वरूप चर्चित हैं। वहाँ पदविक्षेप का अर्थ भगवती की अनन्तकोटि किरणों से प्रकट हुईं आवरण देवताएँ हैं। इसी तरह त्रिपुरा-तन्त्रों में ही कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठों की आन्तर स्थिति पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत **पदों** में मानी गई है। यहाँ पिण्ड की मूलाधार में, पद की हृदय, रूप की भ्रूमध्य और रूपातीत की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में मानी गई है। यहाँ पद का अर्थ हृदय किया गया है। चतुर्विध ध्यान के रूप में जैन ग्रन्थों में भी इनका वर्णन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सब स्थानों पर **पद** शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त है।

यज्ञोपवीत के समान दीक्षा भी एक संस्कार है। स्मृति-ग्रन्थों में ही नहीं, आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों और पुराणों में भी विविध संस्कारों का वर्णन मिलता

है। सोलह से लेकर अड़तालीस संख्या तक के संस्कारों का स्वरूप इनमें देखा जा सकता है। ४८ संस्कारों में ४० शरीरगत और आठ आत्मगत हैं। गौतम-धर्मसूत्र में भी इनका वर्णन मिलता है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार के काश्मीर संस्करण की टिप्पणी (पृ. १४८-१५४) से इनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। इनमें आत्मगत आठ संस्कार ये हैं—दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, माङ्गल्य, अकार्पण्य और अस्पृहा। इन शब्दों के अर्थ भी वहीं (पृ. १५४) देखे जा सकते हैं।

किरणागम में—"गुरुत: शास्त्रत: स्वत:" जैसे वचन मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि गुरु के अतिरिक्त शास्त्रों के अध्ययन से और निजी प्रतिभा के आधार पर भी अपने ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है। योगवासिष्ठ में भी यह विषय वर्णित है। बौद्ध तन्त्रों में **स्वत:** के साथ **परत:** का भी समावेश है, अर्थात् अन्य इष्ट-मित्रों, अभिभावकों आदि के माध्यम से भी व्यक्ति अपने ज्ञान को बढ़ा सकता है। तन्त्रालोक के शक्तिपाताह्निक (१३. १६२-२५१) में नन्दिशिखा, किरणागम आदि के प्रमाण से दीक्षा अथवा अपने प्रातिभ ज्ञान से मोक्षप्राप्ति की बात मानी गई है। स्वपरामर्श से प्राप्त प्रातिभ ज्ञान की महिमा भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तन्त्रालोक आदि में वर्णित है। गुरु के अभाव में भी प्रातिभ ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को रक्ता देवी दीक्षा देती है, यह अभिनवगुप्त (तन्त्रा. ४. ६०-६४) का कहना है। मतंगपारमेश्वर (क्रिया. १.४) में मुद्रा, मण्डल, मन्त्र, क्षेत्र, द्रव्य और साधक—ये छ: दीक्षा के अंग माने गये हैं। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्रातिभ ज्ञान का उन्मेष स्वपरामर्श, निजी प्रयत्न से ही होता है। इसीलिए योगवासिष्ठ जैसे विशाल ग्रन्थ में भाग्य की अपेक्षा निजी प्रयत्न को वरीयता दी गई है।

तन्त्रागमशास्त्र की वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सभी शाखाओं में षडंग योग का निरूपण हुआ है। यहाँ तर्क को श्रेष्ठ माना गया है। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र और श्रीमद्भगवद्गीता में भी अपोहन शक्ति के रूप में यह व्याख्यात है। इसीको ऊह भी कहा गया है। प्रातिभ ज्ञान के उन्मेष में इसीकी प्रधान भूमिका मानी जाती है।

योगशास्त्र और तन्त्रागमशास्त्र में आसन के स्वरूप, संख्या आदि के विषय में सर्वत्र पर्याप्त विचार हुआ है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में योग के तृतीय अंग के रूप में और तन्त्रागमशास्त्र में पूजा के अंग के रूप में यह विषय चर्चित है। त्रिपुरा संप्रदाय के ग्रन्थ ज्ञानदीपविमर्शिनी (पृ. ५२) में तथा अन्यत्र भी

आत्मासन, चक्रासन, सर्वमन्त्रासन, साध्यसिद्धासन, अमृतार्णव और पोताम्बुज नामक छः आसनों का विधान है। शक्तिसंगमतन्त्र के द्वितीय तारा खण्ड (४.२७) में मुण्डासन जैसे ३२ आसन सूचित हैं और इनके नाम वहीं (९. १-६) तथा अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं। षट्कर्म (मारण आदि) की सिद्धि के लिए यहाँ रुद्राक्ष आदि से निर्मित अक्षमालाओं का भी बहुत विस्तार मिलता है। विभिन्न ऋतुओं और देश-काल आदि के भेद से भी इनके विधान में भिन्नता आ जाती है। इनमें अजपा जप (हंसगायत्री) का अपना विशेष महत्त्व है। श्वास-प्रश्वास, प्राणापान-व्यापार, सहजदेव के रूप में विभिन्न तन्त्रों में इनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गई है कि मनुष्य दिन-रात में २१,६०० बार इस मन्त्र का अनायास उच्चारण करता रहता है। विभिन्न देवताओं को इनके समर्पण का विधान भी वहाँ मिलता है।

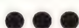
मृत्युसूचक स्वप्नों तथा अन्य निमित्तों का वर्णन शिवपुराण की पाँचवीं उमासंहिता के २५-२८ अध्यायों में है। वहाँ इस प्रसंग में कालवंचन, छायापुरुष-लक्षण जैसे विषय चर्चित हैं। नेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार के अन्त में भी कालवंचन के उपायों का विस्तार से वर्णन मिलता है। उत्क्रान्ति (मृत्यु) के सूचक चिह्नों को जान कर साधक जब तक अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो जाती, अपनी मृत्यु को रोकने में इन उपायों का सहारा लेता है। कालवंचन की प्रक्रिया योगशास्त्र के ग्रन्थों में तथा रसेश्वर दर्शन में भी वर्णित है।

"उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (२.३.१९) इस ब्रह्मसूत्र में उत्क्रान्ति पक्ष का समर्थन किया गया है। शैवागम इसे स्वीकार नहीं करते। तन्त्रालोक (१४.३२-४५) में इस विषय की समीक्षा की गई है। मोक्ष के स्वरूप का विवेचन करते समय यहाँ भी बताया गया है कि आत्मा की उत्क्रान्ति, ऊर्ध्वारोहण जैसे शब्दों की अद्वयवादी शैव दर्शन में कोई मान्यता नहीं है। बौद्ध तन्त्रों में निर्वाण की भी यही स्थिति मानी गई है।

नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों के न्यूनता आदि दोषों के निवारणार्थ प्रायश्चित्त के रूप में पवित्रकविधि का अनुष्ठान भी प्रायः सर्वत्र प्रदर्शित है। सिद्धान्तसारावलि में पवित्रकविधान का विस्तार से वर्णन किया गया है (पृ. २८५-३०६)। कर्मकाण्डक्रमावली जैसे ग्रन्थों में भी इसको देखा जा सकता है। श्रावण मास की शुक्ल प्रतिपदा का नाम पवित्रा एकादशी है। काशी के वैष्णव-

जन इस दिन आज भी भगवान् को पवित्र-समर्पण करते हैं। सात्वतसंहिता के १४-१५ परिच्छेदों में भी इसके विधान को देखा जा सकता है।

समतादृष्टि, विश्वाहन्ता, विश्वसंस्कृति, विश्वदृष्टि, विश्वव्यवहार जैसे विषय तन्त्रागमशास्त्र की विश्व को उत्कृष्टतम देन हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्थाओं के माध्यम से पूरी मानवजाति के कल्याण के लिए इनका प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। हमने अपने महनीय ग्रन्थ ''एक विश्व : एक संस्कृति'' में इन सब विषयों पर विस्तार से विचार किया है। विश्वशान्ति के लिए ये विचार कितने उपयोगी हैं? इस विषय पर मनन होना चाहिए॥



अवधेय पदावलि

●●●

हमारे अन्य प्रकाशन

		सजिल्द	अजिल्द
१.	लिङ्गधारणचन्द्रिका – नन्दिकेश्वर शिवाचार्य	रु.१५०	रु.१२५
२.	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम् – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	- -
३.	वीरशैव अष्टावरण विज्ञान – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	- -	रु.५०
४.	सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	रु.२००	- -
५.	निगमागम संस्कृति – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०
६.	सूक्ष्मागमः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	रु.१२५
७.	चन्द्रज्ञानागमः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१७५
८.	मकुटागमः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१२५	रु.१००
९.	कारणागमः – सम्पा. पं. रामचन्द्र पाण्डेय	रु.१७५	रु.१५०
१०.	निगमागमीयसंस्कृतिदर्शनम् – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३००	रु.२००
११.	पारमेश्वरागमः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.२००
१२.	**Candrajñānāgama** — Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.300	- -
१३.	ईशावास्योपनिषद् – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.१५०	रु.१००
१४.	केनोपनिषद् – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.२००	रु.१५०
१५.	सिद्धान्तप्रकाशिका – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१००	रु.७५
१६.	**Makuṭāgama** — Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.175	Rs.150
१७.	शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी	रु.३००	रु.२००
१८.	अनुभवसूत्रम् – सम्पा. पं. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर	रु.२००	रु.१२५
१९.	सिद्धान्तशिखोपनिषद् – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.३५०	रु.२५०
२०.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः – सम्पा. पं. केदारनाथ त्रिपाठी	रु.२५०	रु.१५०
२१.	सिद्धान्तसारावलिः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.५५०	रु.४००
२२.	श्री गुरुगीता – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१२५
२३.	शिवाद्वैतदर्पणः – शिवानुभव शिवाचार्य	रु.१५०	रु.१००
२४.	सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.२५०
२५.	देवीकालोत्तरागमः – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१५०	रु.१००

	सजिल्द	अजिल्द
२६. Pārameśvarāgama — Tr. by Dr. Rama Ghose	Rs.700	Rs.550
२७. संस्कृत वाङ्मय में वीरशैव साहित्य – एस. अक्कूरमठ (सम्पा. पं. प्रभुनाथ द्विवेदी)	- -	रु.१५०
२८. ऋग्वेदस्यप्रथममण्डलस्य सायणवेंकटमाधवभाष्ययोस्तु-लनात्मकमध्ययनम् – डॉ. प्रमोदिनी पण्डा	रु.४००	- -
२९. तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन (२ भाग) – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.१२००	रु.९००
३०. साम्ययोगमीमांसा – मुकुट बिहारी लाल	रु.३५०	रु.३००
३१. भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.३००
३२. संस्कृत वाङ्मय वल्लरी –डॉ. गंगाधर पण्डा एवं डॉ. प्रमोदिनी पण्डा	रु.३००	- -
३३. मुण्डकोपनिषद् – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग	रु.५००	रु.४५०
३४. वातुलशुद्धाख्यतन्त्रम् – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३००	रु.२००
३५. Transmigration (जन्मान्तरवादः) –पं. केदारनाथ त्रिपाठी	रु.२००	रु.१५०
३६. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद –पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.३५०	रु.३००
३७. तन्त्रागम सार सर्वस्व – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०
३८. पंचवर्णसूत्रमहाभाष्यम् – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी	रु.२००	रु.१५०

प्रकाशनाधीन

श्वेताश्वतरोपनिषद् –संपा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

पञ्चविंशतिलीलाशतकम् – संपा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी तथा ददन उपाध्याय

सिद्धान्त शिखामणि (हिन्दी) – पं. चतुर्वेदी

Sukṣmāgamaḥ — Tr. Dr. Rama Ghose

Śiddhānta Prakāśikā — Tr. Dr. T. Ganeshan



शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

डी. 35/77, जंगमवाडीमठ

वाराणसी-221001

ISBN 81-86768-75-0

Rs. 150/-